शककालीन भारत

इतिहास जीवन की थाती है। उसमें हमारे उन गुणों का सञ्चय होता है जिनके कारण हम ऊपर उठे और हमारी उन भूलों की गाथा होती है जिनके कारण हम गिरे। इतिहास हमें पुकारकर कहता है, सँभलो, ये तुम्हारी भूलें थीं, इनसे बचो और अपने उन गुणों की ओर देखो जिनमें तुम्हारा गौरव प्रकाशित हुआ था। इतिहास हमारे निराशा से थके हुए मन के अन्धकार का प्रकाशस्तम्भ है। वह हमसे कहता है, श्रेय को लो और प्रेय को छोड़ो। यही इतिहास का उपयोग है और यही उसका गौरव है।

—श्री रामनाथ 'सुमन

शककालीन भारत



लेखक

प्रशान्तकुमार जायसवाल

भूमिका

डा० अवध किशोर नारायन

[अध्यक्ष प्राचीन इतिहास विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी]



सम्पादक

श्रीरंजन



प्रकाशक

साधना-सदन

लूकरगंज, इलाहाबाद-१

प्रकाशक	मुद्रक
साधना-सदन	भार्गव प्रेस,
लूकरगंज, इलाहाबाद १	१, बाई-का-बाग, इलाहाबाद ३
प्रथम संस्करण	मूल्य
फरवरी : १९५९	पाँच रुपये पचास नये पैसे

समर्पण

श्री भगीरथजी कनोडिया

जिनके व्यक्तित्व ने मुझे

आकर्षित किया

भूमिका

हिन्दी में अभी भी ऐतिहासिक साहित्य की कमी है। स्कूलों और कालेजों के लिए कुछ पाठ्यग्रन्थ तो उपलब्ध हो रहे हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से शोधग्रन्थ या किसी कालविशेष अथवा राजवंश विशेष का विवरणात्मक इतिहास हिन्दी में उतनी संख्या में उपलब्ध नहीं है, जितनी उसकी आवश्यकता होनी चाहिए। एम॰ ए॰ और पी॰-एच॰ डी॰ के शोध ग्रन्थों के लिए कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है और यदि इनका भी समुचित ढंग से प्रकाशन की व्यवस्था हो तो हिन्दी में ऐतिहासिक साहित्य का संवर्धन एक अच्छे ढंग से हो सकेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ मूलतः एम॰ ए॰ की उपाधि के लिए निबन्ध के रूप में लिखा गया था। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री प्रशान्तकुमार जायसवाल के उत्साह के फलस्वरूप और प्रकाशक श्री श्रीरंजन के सहयोग से इसका हिन्दी में प्रकाशन संभव हो पा रहा है।

शक जाति विशाल सीथियन जाति की एक शाखा थी जिसका मूल निवास मध्यएशिया का भूमि प्रदेश था—कास्पियन सागर से हिन्दकुश पर्वत तक यह फैले हुए थे। शक जाति इसकी पूर्वतम शाखा थी जो हिन्दकुश पर्वत के काँठे में बसी थी। चीनी वृत्तांतों में इनको साइ कहा गया है। इन्हीं साइ (Sai) सके (Sacae) अथवा शक जाति को ह्यूंग-नु जाति के आतंक से भागकर यूह-चियों द्वारा आक्रमण कर दिये जाने के कारण अपना मूल निवास छोड़ना पड़ा। उन्हें सुरक्षित स्थान की आवश्यकता थी। वह दक्षिण की ओर बढ़े और अनेक राज्यों की स्थापना करते हुए भारत की-पिन में पहुँचे और वहाँ पर अपना शासन स्थापित किया। की-पिन का समीकरण अभी भी विवाद का विषय है फिर भी चीनी वृत्तान्तों के विवेचन से मुझे लगता है कि प्रारंभ में की-पिन

का अर्थ स्वात और पश्चिमी गंधार से रहा होगा। कालांतर में पूरे कश्मीर को की-पिन कहा जाने लगा और बाद में तो कुषाण साम्राज्य को भी कभी-कभी की-पिन नाम से जाना जाता था। भारत में इनके और भी कई केन्द्र थे। इन्होंने लगभग चार सौ वर्षों तक शासन किया और यहाँ के जन-मानस में घुल-मिल गये। मुसलमानों और अंग्रेजों से पूर्व जिस विदेशी जाति ने बहुत दिनों तक भारत-भूमि पर शासन किया और यहाँ के जन समाज संस्कृति एवं कला को प्रभावित किया उनमें शकों का स्थान प्रमुख है। भारतीय संस्कृति के संवर्धन में शकों के योगदान के पहलुओं का मूल्यांकन करना शोध का विषय होना चाहिए।

इस विषय पर अभी तक अंग्रेजी अथवा हिन्दी में इतना विस्तृत विवेचन किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है। यद्यपि शकों के जीवन पर अंग्रेजी में कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तथापि वे सभी विशेषकर उनके राजनीतिक जीवन का ही चित्रण करते हैं। अंग्रेजी भाषा में स्वर्गीय, एस० के० डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय अध्यक्ष इतिहास विभाग विश्वभारती ने ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। किन्तु आधे से अधिक लगभग पूरा का पूरा ग्रन्थ शकों के राजनीतिक जीवन का ही चित्रण करता है। इसी प्रकार श्री सत्यश्रव का ग्रन्थ भी जो पंजाब विश्वविद्यालय से एम० ए० उपाधि के लिए लिखा गया था केवल सामग्री एकत्र करता है। इस पुस्तक में महाक्षत्रप के क्षहरात और उज्जयिनी और सुराष्ट्र के चष्टन कुल के ही इतिहास का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शकों के जीवन की विवेचना किसी ने व्यापक रूप से नहीं की। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने शकों के जीवन की व्यापक रूप से विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा सभी उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर किया है जो प्रोत्साहनीय है।

अवध किशोर नारायण
अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

विषय सूची

शक-अभिलेख सूची

संकेत सूची

म० भा०—महाभारत
कू० पु०—कूर्म पुराण
मनु० स्मृ०—मनु स्मृति
कै० हि० इं०—कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
अर्ली हि० इं०—अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया
ग्री० कै० इं०—ग्रीक इन बक्ट्रिया एण्ड इण्डिया
का० इं० इं०—कारपस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम
डी० पी० इं० हि०—डायनेस्टिक पीरियड आफ इंडियन हिस्ट्री
स० इं०—सलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स बियरिंग आन इंडियन सिविलाइजेशन
पौ० हि० ए० इं०—पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेंट इंडिया
हि० इं० एक्स० आर्ट—हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट
ए न्यू हि० इं० प —ए न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल
म० म्यू० कै०—मथुरा म्यूजियम कैटलाग
इं० ऐं —इण्डियन ऐंटिक्वेरी
एपि० इं०—एपिग्राफिया इंडिका
ज० रा० ए० सो०—जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० बो० ब्रां० रा० ए० सो०—जर्नल बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी
मे० आर्के० सर्वे इं०—मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे इंडिया
ज० बि० उ० रि० सो०—जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
ज० उ० प्र० हि० सो०—जर्नल उत्तर प्रदेश हिस्टारिकल सोसाइटी
आर्के० सर्वे० वे० इं०—आर्केलाजिकल सर्वे वेस्टर्न इंडिया
वि० स्मृ० ग्र०—विक्रम स्मृति ग्रन्थ
ना० प्र० प —नागरीप्रचारिणी पत्रिका
भा० इ० मी०—भारतीय इतिहास की मीमांसा
हि० सा० बृ० इ०—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास
ल० म्यू० कै०—लखनऊ म्यूजियम कैटलाग

इ० म्यू० कै०—कैटलाग आफ दि क्वायन्स आफ इंडियन म्यूजियम
वि० पु०—विष्णु पुराण
ऋ०—ऋग्वेद
न्या० सू०—न्याय सूत्र
ज० इं० सो० ओ० आ०—जर्नल आफ दि इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट
पो० हि० पा०—ए पोलिटिकल हिस्ट्री आफ पार्थिया
इं० हि० क्वा०—इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली
बी० एस० ओ० ए० एस०—बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज
ज० इं० हि०—जर्नल इंडियन हिस्ट्री
ब्रि० म्यू० कै०—ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग
ए हि० सं० लि०—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
प्रा० भा० इ०—प्राचीन भारत का इतिहास
हि० ए० इं०—हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया
ज० ए०—जर्नल एशियाटिक
ए० हि० दकन—ऐंशेंट हिस्ट्री आफ दकन
आर्के० सर्वे रि० वे० इं०—आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट वेस्टर्न इंडिया
प्रा० भा० शा० प०—प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति
दि श इ०—दि शकज इन इंडिया
वा० पु०—वायु पुराण
ज० ब० हि० यू०—जर्नल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
इं० क०—इंडियन कल्चर
अहि० सं०—अहिर्बुध्न्य संहिता
मे० आर्के० सर्वे० ए० रि०—मेमायर्स आर्केलाजिकल सर्वे एन्युअल रिपोर्ट
बौ० ध० सू०—बौधायन धर्म सूत्र
श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण

प्रथम अध्याय

जातीय परिचय और भौगोलिक स्थिति

भारत भूमि प्राचीन काल से ही अनेक जातियों के आगमन का सदन रही है। अनेक जातियाँ इस देश में आक्रमक अथवा आक्रामक के रूप में आई। पर इस मिट्टी में अपनी एक विशेषता भी रही है जो थी सबको आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति। सब आकर यहाँ एक ही रंग में रंग गए और पृथक्त्व में एकत्व का अपना ऐसा अपूर्व उदाहरण बना गये जो विश्व के इतिहास में अद्वितीय है। अब आज के समाज में शकों को ढूँढ निकालना कठिन है।

स्रोत—भारत में बाहर से आने वाली जातियों में शक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में और अभिलेखों में इनका वर्णन मिलता है। शकों का उल्लेख अधिकतर यवनों के साथ हुआ है। भारतीय साहित्य में शकों के निम्नांकित उल्लेख पाये जाते हैं, वाल्मीकि रामायण में शकों का उल्लेख तथा प्राचीन भारतीय आर्यों के साथ युद्ध करते हुए, हुआ है। बालकाण्ड में एक जगह उल्लेख आता है—"पुनः घोर शकों को पैदा किया उनमें यवन भी मिले हुए थे। शक और यवनों से मिली हुई जाति से भूमि आच्छादित हो गयी[1]।" महाभारत में शकों का उल्लेख यवन, तुषार, कम्बोज आदि जातियों के साथ हुआ है। महाभारत में ऐसा वर्णन मिलता है कि ये जातियाँ भारत युद्ध—में कुरुओं की ओर से लड़ी

---

[1] भूय एवासृजद्घोरान् शकान् यवनमिश्रितान्।
तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः॥ बाल० ५४।२१।

थी—शक तुषार और यवन साथ-साथ काम्बोज लड़ने की इच्छा वाले ... ...।[1] मानव धर्म शास्त्र के मनु संहिता में भी इन शकों का उल्लेख यवन, पह्लव और पौण्ड्र, द्रविड़, किरात, दरद, खश पारद आदि जातियों के साथ हुआ है तथा इनको ब्राह्मणों से सम्पर्क न रहने के कारण वृषल बतलाया गया है।[2] पुराणों में भी इनका वर्णन मिलता है।[3] पाणिनि[4], कात्यायन[5], पतंजलि[6] आदि ने भी इनका वर्णन किया है। अभिलेखों में इनका वर्णन वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलोमावी[7], समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति[8], मथुरा सिंह शीर्ष लेख[9] एवं मयूरशर्मन के चन्द्रवल्ली प्रस्तर लेख[10] आदि में हुआ है।

मध्य एशिया में निवास करने वाली सीथियन जाति की शाखा-

---

१ शकास्तुषारा यवनाश्चिलिकान्
सहैव काम्बोजवरैर्विपातनः ॥ कर्ण पर्व ६४।१६ ।

२ वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
मनु० १० । ४३, ४४

३ वा० पु० ८८ डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज पृ० ४७ ५० ।

४ अष्टाध्यायी ४ । १ । १७५; ८ । ३ । ९७ ५ । ४ । १८ ।

५ अष्टाध्यायी के ६ । १ । ९४ पर वार्तिक—शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ।

६ पतंजलि द्वारा व्याहृत शक-यवन समास अष्टाध्यायी सूत्र संख्या २ । ४ । १ ।

७ एपि० इं० ८ । २ । ६० ।

८ वही ६२ । १५ ।

९ " ९ । १३५ ।

१० ए० आर्के० सर्वे० ए० रि० १९३६ पृ० ५ ।

रूप में विद्यमान शकों का उल्लेख बेहिस्तुन, हखामनी साम्राज्य के अभिलेखों में मिलता है।[1] इतिहासकार हेरोडोटस का इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत है कि स्कीथियन लोग दारा के साम्राज्य के पूर्व ही मिडस को जीत कर एशिया के स्वामी हो गये थे।[2] उनके द्वारा वहीं पर निश्चित प्राप्त सूचना का भी उल्लेख किया गया है। स्कीथियनों में काल—गणना की परंपरा विद्यमान थी। उनके प्रथम सम्राट से लेकर ईरानी सम्राट दारा के आक्रमण तक का समय पूर्ण रूपेण १००० वर्ष का था।[3] दारा के संबंध में निर्धारित तिथि ५२१-४८६ ई० पू० मानी जाती है। इस प्रकार यदि हेरोडोटस को प्राप्त तथा उसके द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त सूचना पर विचार किया जाय तो इतिहास के रंगमंच पर शकों का उदय १५०० ई० पू० से भी पहले हो जाता है।[4]

शक नाम पड़ने का कारण

शक 'शक' क्यों कहलाये यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। किन्तु इसका समाधान केवल भारतीय साहित्य ही से हो सकता है। ग्रीक लेखकों ने इस प्रकार का समाधान किया ही नहीं है। पुराणों में ऐसा वर्णन मिलता है कि शकों का निवास स्थान नदियों से घिरा हुआ था जिनकी शाखाओं की आकृति शक अथवा शालू के वृक्ष-सदृश थी।[5] भारत में शकों के लिए 'सागवान' शब्द व्यवहृत होता है और हम स्पष्टतया देखते हैं कि इसकी व्युत्पत्ति मूल संस्कृत के 'शाक' शब्द से ही है।[6] मत्स्यपुराण में इस विवरण का उल्लेख है कि

---

१ सि० ई० १, ५—२१।
२ हेरोडोटस १। १४।
३ " २। ११०।
४ सत्यश्रव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० २।
५ वा० पु० ४६। ८८ एवं ८६।
६ सत्यश्रव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ४।

"शकों के निवास-स्थान में शक नामक एक पर्वत विद्यमान था अत एव उनका नामकरण शक हुआ।"[1] ऐसी भी संभावना हो सकती है कि इस पर्वत पर शाक नामक वृक्ष रहे हों जिससे यह पर्वत शाक संज्ञक हुआ हो। विभिन्न संस्कृत कोषों में 'शक' शब्द का अर्थ विभिन्न दिया हुआ मिलता है।[2] प्रसिद्ध कोषकार मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ एक पशु विशेष बतलाया है तथा इसके स्त्रीलिंग का अर्थ एक पक्षी, मक्षिका अथवा लम्बे कान वाला पशु दिया है।[3] इससे एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि कान लम्बे होने के कारण संभवतः उनका नामकरण 'शक' हुआ। चीनी वृत्तान्तों में इनके 'शक' नाम पड़ने के कारण पर तो नहीं पर 'शक' नाम की ही भाँति इनको 'सई' अथवा 'सेक' कहा गया है जिनका समीकरण इतिहासकार रेप्सन ने सीरदरिया के काँठे में निवास करने वाले स्की थियनों अथवा शकों से किया है।[4]

शकों का आदि देश

शकों के आदि देश स्कीथिया के संबंध से हेरोडोटस[5] द्वारा दिया हुआ विवरण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अनुसार स्कीथिया आकार में वर्गाकार है और इसके दोनों किनारे समुद्र का स्पर्श करते हैं।[6]

सिसली के डायडोरस के अनुसार शकों के पास पहले एक छोटा ही प्रदेश था, किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे इनकी संख्या में वृद्धि होती

१ मत्स्य पुराण १२१। ४५।
२ शब्दकल्पद्रुम, विश्व प्रकाश कोश, नानार्थ शब्द कोश एवं नानार्थ संग्रह मद्रास संस्करण।
३ ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ० १०५५।
४ कै० हि० इं० पृ० ५६५।
५. भाग ४।
६ वही ४। ४०१।

गयी इन लोगों ने अन्य प्रदेशों पर भी प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ किया और वक्षु (सीरदरिया के काठे से) नदी प्रदेश से, जहाँ के वे निवासी थे, आगे बढ़ते हुए काकेशस पर्वत तक पहुँच गए और उसके बाद (५० ई० पू०) तक तो वे भारत के सीमांत प्रदेश तक बढ़ गये थे।[1] स्ट्राबो द्वारा स्पष्ट हो जाता है—कास्पियन सागर के पूरब में स्कीथियन जाति के लोग बसते हैं और दधि के पूरब शकों का निवास है।[2]

शकों के आदि देश के संबंध की चर्चा करते हुए भारतीय साहित्य उस स्थान को 'शाकद्वीप' नाम से अभिहित करते हैं। महाभारत में शाकद्वीप का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार क्षीरोद्सागर (कास्पियन सागर) का कुछ भाग शाकद्वीप से घिरा हुआ था।[3] वायुपुराण के अनुसार क्षीरोद्सागर का कुछ भाग शाकद्वीप से घिरा हुआ था तथा दधि एवं मण्डोदक सागरों का स्पर्श करता था।[4] मत्स्यपुराण में ऐसा उल्लेख मिलता है कि लवणोदधि शाकद्वीप से घिरा था।[5] महाभारत में ऐसा बयान है कि शाकद्वीप के एक भाग अथवा मर्गियाना के लोग ब्राह्मण थे और मग्न निवासी क्षत्रिय तथा इसके अन्य भागों में वैश्य एवं शूद्र भी निवास करते थे।[6] महाभारत का यह कथन हेरोडोटस के उस वर्णन से भी मेल खाता है जिसमें यह कहा गया है कि स्काथिया के बीच के प्रदेश में पशुपालक तथा

---

१ डायडोरस आफ सिसली, २, ४३।

२ स्ट्राबो ११, ५१४।

३ भीष्म पर्व ११।६।१०।

४ क्षीरोदेन समुद्रेण सर्वतः परिवारितः।
शाकद्वीपस्तु विस्तारात्समेन तु समन्ततः। वा पु ४६।९९।
परिवार्य समुद्रं स दधिमण्डोदकं स्थितः। वा पु ४६।७५।

५ तेना वृतः समुद्रो यं द्वीपेन लवणोदधिः। मत्स्य १२२।२।

६ भीष्मपर्व, ११।३६—३७।

पृथक स्कीथियन निवास करते थे।[1]

शकों के मूल निवास के संबंध में साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त पुरातात्त्विक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। हखामनी सम्राटों के वृत्तान्तों से विदित होता है कि शक तीन स्थानों पर बसे थे और वे उनकी प्रजा थे।[2] इस वंश के अभिलेख शकों के वासस्थान की ओर भी संकेत करते हैं। उनका संकेत 'पर-सुग्द' की ओर है। 'पर-सुग्द' का ठीक अनुवाद ट्रांसियाक्सियाना किया जा सकता है जो सीरदरिया (Syr Darya) के विशाल मैदान की ओर संकेत करते हैं।[3] सुग्द की राजधानी हमेशा से समरकन्द रही है।

द्वितीय अथवा पहली शती ईस्वी पूर्व में इन शकों को स्थान छोड़ना पड़ा होगा। उनके मूलभूमि छोड़ने तथा दूसरे स्थान पर बसने के संबंध चीनी स्रोत महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चीनी विवरण 'सी-की' तथा 'त्सान-हान-शू' से ज्ञात होता है कि हूणों ने काशगरिया के सुदूर पूर्व तथा उत्तर-पूर्व में बसने वाली यूहची जाति को बुरी तरह से परास्त किया। टार्न के अनुसार यह तिथि १७६ ई० पू०—७४ ई० पू० तक रही होगी।[4] स्टेनकोनो ने इस घटना का काल-निर्धारण लगभग १६५ ई० पू० किया है जो कि स्मिथ को भी मान्य है।[5] किन्तु चीनी स्रोत तिथि के संबंध में कोई विवरण नहीं देते हैं। वहाँ केवल यही कहा गया है कि चि-तू के राज्य-काल में यह घटना घटी।

इस युद्ध में यूहची राजा मारा गया। यूहची हूणों के सामने टिक न सके। पश्चिम की ओर भागे। रास्ते में उनकी मुठभेड़ वुसुन से

---

१ भाग ४ । १८ ।

२ द आर्के० सर्वे० ई० १४ । १—८ ।

३ वही।

४ ग्रीक्स ऐ० इ० पृ. २७६ ।

५ डा० चट्टोपाध्याय दि शकाज इन इंडिया, पृ १ ।

हुई। किन्तु यूहची रुके नहीं आगे बढ़ते ही गए और इसस्सूल झील पर ही जाकर दम लिया। यहाँ वे शाखाओं में विभक्त हो गए—क्षुद्र यूहची और ता-यूहची उनकी दो शाखाएँ हुईं। क्षुद्र दक्षिण की ओर चले गए और तिब्बत के सीमान्त प्रदेश में जाकर बस गए। ता-यूहची पश्चिम की ओर बढ़ते ही गए और अपर इली की घाटी में बसे, साई अथवा सेक लोगों से जा टकराये। किन्तु कुछ चीनी वृत्तान्त यूहची तथा वुसुन के इस मुठभेड़ के संबंध में सर्वथा मूक हैं। उनके अनुसार हिगनू से पराजित होने के बाद यूहची सीधे सीरदरिया के काँठे में चले गए।[1]

इस प्रकार हिगनू जाति से मुठभेड़ होने के बाद यूहची पश्चिमी की ओर भागे और उनकी भिड़न्त साइ अथवा शक लोगों से हुई। परिणामस्वरूप साई-वाग अथवा शक लोग दक्षिण की ओर भागे और की-पिन[2] में जा बसे और अनेक राज्यों की स्थापना की।[3] साई

---

१ वही पृ १।

२ 'की पिन' विद्वानों में बड़े विवाद का विषय बना हुआ है। 'हान-शुन' के वृत्तान्त 'की-पिन का वर्णन करते हुए कहते हैं—यह स्थान बड़ा गरम है तथा यह दक्षिण-पश्चिम में वु-इ-शान लि (आर्कोशिया) द्वारा घिरा है और उत्तर-पश्चिम में ताहिया (बल्ख) द्वारा। स्मिथ कोनो इसको काशिया से व्याख्या कर इसकी भौगोलिक स्थिति को कश्मीर में कहीं स्थापित करते हैं। परंतु यह प्रदेश हिमाच्छन्न है, यह गरम नहीं हो सकता। ह्वेनसांग के अनुसार काशिया एक प्रदेश है। बहुत से विद्वानों ने की-पिन को कश्मीर से भी मिलाया है जिसको आज को विद्वान् मयदली ने मान भी लिया है। सर ऑरेल स्टीन ने अपना 'सेंट खोतन' १।५१ और स्मिथ ने अपना 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया' पृ २५१ में इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान किया है।

३ न्यूमिसमेटिक-क्रानिकल १८८८—८९ पृ ११६।

वांग को हम शकों के अर्थ में निर्विवाद रूप से ले सकते हैं अथवा नहीं इस पर भी विचारकों ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये हैं। डा० चट्टोपाध्याय ने इस पर प्रकाश डाला है तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह शब्द शकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[१]

भारत की ओर प्रस्थान :

अब प्रश्न उठता है साई-वांग की-पिन किस मार्ग का अनुगमन कर पहुंचे। हान-शू से ज्ञात होता है कि साई-वांग दक्षिण की ओर मुड़कर 'हीन-तू' अथवा हिन्दुकुश के रास्ते से 'की-पिन' पहुंचे। फाहियान ने 'हीन-तू' को रक्क से थोड़ा पश्चिम काशगर से दक्षिण पश्चिम दिशा में सिंधु-नदी के पास अवस्थित बतलाया है। किन्तु चीनी वृत्तान्त इस संबंध में सर्वथा मौन हैं—उन्होंने इस बीहड़ तथा दुर्गम मार्ग को ही क्यों चुना ? इस विषय पर कोनो थोड़ा प्रकाश डालता है। उसके अनुसार शकों का विस्तार दक्षिण में बाल्टिस्तान तक हो गया था। अतएव इस प्रदेश की जातियों के लिए इस बीहड़ मार्ग से भारत में प्रवेश करना कोई दुष्कर कार्य नहीं था।[२]

इस प्रकार शकों की एक शाखा ने, यू-चियों से भिड़न्त के बाद, कश्मीर के मार्ग से भारत में प्रवेश किया और कश्मीर-पंजाब में आकर बस गयी।[३]

१ दि शकाज इन इंडिया पृ ३।
२. डा चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ ४।
३ सी पी ई हि पृ १५७—यद्यपि यह संभव है कि सीस्तान के शकों ने प्राचीन काल में भारत पर आक्रमण किया किन्तु संभावना यही है कि पश्चिमोत्तर भारत के खरोष्ठी अभिलेखों के रचयिता पश्चिम से न आकर उत्तर ही से आये थे—किन्तु मो डेबिवोईस और बनर्जी शास्त्री ने क्रमशः पोलिटिकल हिस्ट्री आफ पार्थिया पृ ५८-५९ में एवं ई हि क्वा १९।१९ के अपने लेख में शकों के दोनों मार्गों से आने की संभावना व्यक्त किया है।

उपर्युक्त धारणा के अतिरिक्त हमारे पास अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं जो शकों के आगमन स्थान की पूर्वी ईरान के भूमिप्रदेश में अवस्थित करती हैं। ऊपर हम इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि यूहचियों के मुठभेड़ के कारण शकों की कई शाखाएँ हुए तथा उनके अनेक राज्यों की आगे चलकर स्थापना हुई। जो लोग 'की पिन' में जा बसे वे उनके अतिरिक्त कुछ और कबीले आर्कोशिया और ड्रैंगियाना की ओर बढ़े। संभवतः उन्हीं को स्ट्रैबो ने स्कीथवन की संज्ञा दी है।[1] उनकी चपेट में पाथव एवं बाख्त्री राजकुल आए और इस प्रकार संपूर्ण हेलिनिस्टीय उपनिवेश शकों की चपेट में आ गया। यूक्रेटिद का ग्रीक राजकुल अपनी गृहकलह के कारण स्वयं त्रस्त तथा दुर्बल हो गया था। वह शक आक्रमणकारियों का सामना न कर सका।[2] बाख्त्री पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर शक और आगे बढ़े। रास्ते में पार्थव पड़ते थे। ई० पू० १३८ में पाथव राजा फ्रात द्वितीय धाराशायी हुआ। उसके उत्तराधिकारी आर्तबानस द्वितीय (१२८ १२३ ई० पू०) ने उनको कुछ 'कर' आदि देकर एक अस्थायी शांति की व्यवस्था की। किन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक न चल सकी। वह भी पाँच वर्ष बाद शकों द्वारा युद्ध में मार डाला गया।[3] परन्तु उसका उत्तराधिकारी मिथ्राद द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) शक्तिशाली राजा हुआ। उसने उस संपूर्ण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके शकों को आगे बढ़ने से रोक दिया। उसके राजत्व काल में उसका इतना दबदबा रहा कि शक जरा भी आगे नहीं बढ़ सके।

विद्वानों की ऐसी धारणा है कि उपयु क्त राजा के राजत्वकाल में अथवा उसके पश्चात् शक भारतीय सीमा की ओर बढ़े। रास्ते में

१ एरिट्रोम हिस्टोरिकेरम फ्रिगिमिन्टिकेरम पाम्पेई ट्रौगि ११ ।१।२।

२ डा० भगवतशरण उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ १ ४।

३ पौ० हि० पा० पृ० ३१, ३२ ३६, ५८।

नाम को हम शकों के अर्थ में निश्चित रूप से ले सकते हैं अथवा नहीं इस पर भी विचारकों ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये हैं। डा० चट्टोपाध्याय ने इस पर प्रकाश डाला है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह शब्द शकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[1]

भारत की ओर प्रस्थान

अब प्रश्न उठता है साई-वांग की-पिन किस मार्ग का अनुगमन कर पहुँचे। हान-शू से ज्ञात होता है कि साई-वांग दक्षिण की ओर मुड़कर 'हीन-तू' अथवा हिन्दूकुश के रास्ते से 'की-पिन' पहुँचे। फाह्यान ने 'हीन-तू' को स्कर्दू से थोड़ा पश्चिम काशगर से दक्षिण पश्चिम दिशा में सिंधु-नदी के पास अवस्थित बतलाया है। किन्तु चीनी वृत्तान्त इस संबंध में सर्वथा मौन हैं—उन्होंने इस बीहड़ तथा दुर्गम मार्ग को ही क्यों चुना? इस विषय पर कोनौ थोड़ा प्रकाश डालता है। उसके अनुसार शकों का विस्तार दक्षिण में वाखिस्तान तक हो गया था। अतएव इस प्रदेश की जातियों के लिए इस बीहड़ मार्ग से भारत में प्रवेश करना कोई दुष्कर कार्य नहीं था।[2]

इस प्रकार शकों की एक शाखा ने, यूचियों से निकलने के बाद, कश्मीर के मार्ग से भारत में प्रवेश किया और कश्मीर-पंजाब में आकर बस गयी।[3]

१ दि शकास इन इंडिया पृ. १।
२. डा चट्टोपाध्याय, दि शकास इन इंडिया, पृ. ४।
३ सी एच ई आई पृ. ५६७—यद्यपि यह संभव है कि सीस्तान के शकों ने प्राचीन काल में भारत पर आक्रमण किया किन्तु संभावना यही है कि पश्चिमोत्तर भारत के खरोष्ठी अभिलेखों के स्थापिता पश्चिम से न आकर उत्तर ही से आये थे—किन्तु ल्यूडर्स डेबिवॉइस और मजूमदार शास्त्री ने क्रमशः पोलिटिकल हिस्ट्री आफ पार्थिया पृ. ३८-४६ में एवं ई. हि क्वा. ११।२०६ के प्रथम लेख में शकों के दोनों मार्गों से आने की संभावना व्यक्त किया है।

उपर्युक्त धारणा के अतिरिक्त हमारे पास अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं जो शकों के आगमन स्थान को पूर्वी ईरान के भूमिप्रदेश में अवस्थित करती हैं। ऊपर हम इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं कि यूचियों के मुठभेड़ के कारण शकों की कई शाखाएँ हुई तथा उनके अनेक राज्यों की आगे चलकर स्थापना हुई। जो लोग 'की-पिन' में जा बसे वे उनके अतिरिक्त कुछ और कबीले आकोंसिया और ड्रैंगियाना की ओर बढ़े। संभवतः उन्हीं को जस्टिन ने स्कीथियन की संज्ञा दी है।[1] उनको पश्चिम से पार्थव एवं बाख्त्री राजकुल आए और इस प्रकार संपूर्ण हेलिओक्लीज सपरिवार शकों की झपट में आ गया। यूक्रेटिड का ग्रीक राजकुल अपनी गृहकलह के कारण स्वयं त्रस्त तथा दुर्बल हो गया था। वह शक आक्रमणकारियों का सामना न कर सका।[2] बाख्त्री पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर शक और आगे बढ़े। रास्ते में पार्थव पड़ते थे। ई० पू० १२८ में पार्थव राजा फ्राट द्वितीय धराशायी हुआ। उसके उत्तराधिकारी आर्तबानस द्वितीय (१२८ १२३ ई० पू०) ने उनको कुछ 'कर' आदि देकर एक अस्थायी शांति की व्यवस्था की। किन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक न चल सकी। वह भी पाँच वर्ष बाद शकों द्वारा युद्ध में मार डाला गया।[3] परन्तु उसका उत्तराधिकारी मिथ्रदात द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) शक्तिशाली राजा हुआ। उसने इस संपूर्ण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके शकों का आगे बढ़ने से रोक दिया। उसके राजत्व काल में उसका इतना दबदबा रहा कि शक जरा भी आगे नहीं बढ़ सके।

विद्वानों की ऐसी धारणा है कि उपर्युक्त राजा के राज्यकाल में अथवा उसके पश्चात् शक भारतीय सीमा की ओर बढ़े। [illegible]

१ एपिटोम हिस्टोरिकेरम फिलिप्पिकेरम पाम्पेई ट्रोगि ४१।१।
२. डा० भगवतशरण उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० [illegible]
३ पो० हि० पा० पृ० ३१, ३२ ३६, ४० ।

काबुल का राज्य पड़ता था जो बाख्त्री राजकुल की ही एक शाखा द्वारा शासित होता था। वे आगे नहीं बढ़ सकते थे। अतएव वहीं से यहीं कुछ काल के लिए उन्होंने डेरा डाला। उनकी यह निवास भूमि सकस्तान कहलाई।[1] कुछ कालोपरान्त कंधार और बलोचिस्तान (बोलन दर्रे) के रास्ते से वे भारत पहुँचे और सिंधु-नदी के निचले काँठे में आ बसे। उनके इस नवीन स्थान को हिन्दू लेखकों ने 'शकद्वीप' और ग्रीक भूगोलविदों ने 'इण्डोसिथिया' कह कर पुकारा है।

पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अपना वार्तिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए कात्यायन ने 'शकन्धु' तथा 'कर्कन्धु' शब्दों का उल्लेख किया है।[2] ऐसा लगता है कि कात्यायन द्वारा वर्णित शक शकस्थान में आकर बसने वाले शकों के पूर्वज थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जब शक लोगों का निवास स्थान मध्य एशिया था तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में 'शकन्धु' शब्द का प्रचलन हो गया था। शकन्धु का अर्थ शक लोगों का कुआँ होता है। यह शब्द संस्कृत भाषा के व्याकरण में अपना विशेष स्थान बनाए हुए यह सिद्ध करता है कि भारत के लोग शकों के यहाँ आगमन से पूर्व से ही उनसे परिचित थे और पाणिनि-कात्यायन परिचित शक ईसवी पूर्व प्रथम शती

१ न्यूमिस्मैटिक क्रानिकल १८८८-९२ पृ० १२६ ।
पारथ के आइसोडोर ने इसको स्कीथिया कहा है और इसमें निम्नलिखित नगरों के नाम बतलाया है—(१) बर (२) मिन (३) पलकेंति (४) सीगल (५) अलेक्जेंड्रिया और (६) अलेक्जेंड्रोपोलिस। टाइबल को कतिपय ने शकों की राजधानी बतलाया है तथा 'बाल' से उसका मिलान किया है। बाल अथवा कोह (क्वेटा युग) जो कि हमेशा से सैनिक महत्त्व का स्थान रहा है। कंधार और निचले सिंधु-काँठे के बीच यह पड़ता है। टौलेमी का 'कोड्रोपर' संभवतः यही था।

२ ६।१।९४ वा० ४ ।

में यहाँ आकर बसने वाले शकों के पूर्वज थे। पाणिनि ने 'कन्था' शब्द का भी उल्लेख किया है। मूल में यह शक भाषा का शब्द था जिसमें 'कन्थ' का अर्थ नगर होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय भी मध्यएशिया में 'कन्थान्त' नामों का एक तांता था जो अभी तक विद्यमान है। यथा—समरकंद पायकन्द आदि। 'कन्थ' शब्द का परिवर्तन तुर्की में 'कन्द' हो जाता है। इससे भी यहाँ संकेत मिलता है कि पाणिनि से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और संपर्क गज़नी-कंधार की उपत्यका से उतर कर सोचीगोमल नदियों के मार्ग से रावी और चनाब के कोठे तक पहुँचा था।[1]

भारतीय शकों के नामकरण में स्कीथियन, पार्थव और ईरानी तत्त्वों का सम्मिश्रण है। इससे आसानी से यह परिणाम निकाला जा सकता है भारत में प्रवेश करने से पूर्व शक ईरानी पार्थव प्रभाव में रह चुके होंगे। वहीं उनका रूप सम्मिश्रण भी हुआ होगा। इसी प्रकार भारत में आने पर उन पर भारतीय प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतीय नामों को एवं भारतीय धर्म को अपनाया, भारतीय परिवारों से विवाह संबंध स्थापित किये। इस संबंध में रुद्रदामन का जूनागढ़ लेख[2] और वासिष्ठपुत्र श्री शातकर्णि का कन्हेरी लेख[3] उद्धृत किया जा सकता है। कालान्तर में शकों ने भारत में कई राजकुलों की स्थापना की।

भारतीय शक कौन थे ?

भारतीय शक कौन थे इस प्रश्न का समाधान मथुरा सिंह का शीर्ष लेख करता है। इस शीर्ष को स्थापना करने वाली "महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी.......अयसिया कमुइआ" ने शाक्यमुनि बुद्ध

[1] वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८१ ९।
२. एपि० इं० ८। ४२।
३ आर्के० सर्वे वे० इं० ५। ११, ७८।

का शरीरधातु प्रतिष्ठापित करते हुए यह कामना की थी कि उसका यह दान "महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक की पूजा के लिए, सब बुद्धों, धर्म और संघ की पूजा के लिए और समूचे शकस्थान की पूजा के लिए हो।"[१] 'सवस सकस्तनस पुयए' यह प्रमाणित करता है कि मथुरा क्षेत्र के 'शकस्थान' या सीस्तान से आये थे जो अपना मूलभूमि को अब तक भुला नहीं सके थे।

उसी प्रकार कन्हेरा लेख में महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री अपने को कार्दमक वंशज कहती है। कार्दमक कार्दम से बना है। कार्दम एक नदी है जो फारस (पर्शिया) में बहती है।[२]

किन्तु 'कार्दम' की स्थिति गुजरात प्रान्त में भी बतलाई गया है। गुजरात प्रान्त के वर्तमान सिद्धपुर में जो कि बड़ौदा राज्य में पड़ता है और जो शकों के अधिकार में था 'कार्दम' को बतलाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि कार्दम नामक कोई सन्यासी वहाँ कुटिया बनाकर रहता था। उसी से उस जगह का नाम कार्दम पड़ गया।[३] शक संवत् १२२ ईस्वी के मेरुर ताम्रपत्र में कार्दम ग्राम का उल्लेख हुआ है।[४]

गुजरात प्रान्त के इस कार्दम ग्राम से प्रकट होता है कि फारस के कार्दम नदी के किनारे पर बसने वाले वे शक अपनी मूलभूमि को भूल नहीं सके थे और उस पवित्र स्मृति को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने गुजरात में एक ग्राम का नाम कार्दम रख दिया होगा। सभी विदेशी जातियाँ अपनी मूलभूमि की स्मृति अपने मानस-पट पर बनाए रखती हैं। वे शताब्दियों तक उसको नहीं भूलतीं। भारत में पारसी अपनी मूलभूमि की स्मृति लगभग आठ शताब्दियों तक

१ एपि० इं० ६। १४१।
२ पो० हि० ए० इं० पृ० ४१७।
३ मजूमदार, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६८।
४ गौरीशंकर हीराचंद ओझा, हिस्ट्री आफ सोलंकीज।

बनाये रहे। प्राचीन इजिप्शियन और फोनेशियन अपनी मूलभूमि की अब तक यादगार बनाये हुये हैं यद्यपि वे उस स्थान को जहाँ पर वे वस्तुतः रहते थे भूल गये हैं।[१]

भारत में बसने वाली सभी शक-कुलों के साथ यह बात लागू होती थी। ये शक तो थे किन्तु विभिन्न प्रदेशों से आकर यहाँ बसे थे। कोई 'कारंभ घाटी' से आया था तो कोई 'सहर'[२] से और कोई 'शकस्थान' से।

शक स्थान की भौगोलिक स्थिति

यदि नक्शे पर दृष्टिपात किया जाय तो शकस्थान की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जायगी। दक्षिण में समुद्र तथा उत्तर में हेरात से शिकारपुर सिंध होते हुए बोलन दर्रे तक की सीमा के बीच की भूमि शकस्थान थी। इसमें वर्तमान कर्मान, सीस्तान, ईरानी बलूचिस्तान, केचान आदि जिले थे। कोई बड़ा नगर नहीं था। इसके मुख्य नगरों में कर्मान, गुम्बावर बंदर, साख, बेपुरी मिरि, रका, तम्प आदि मुख्य थे।[३]



---

१ दि वैदिक एज, पृ० ११६।
२ आगे देखिये, सहरात कौन थे?
३ डी० एस० शाह, एन्शेंट इंडिया १। ६८।

दस वर्ष के शस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह अनुवंशों को नष्ट कर देगा[1]।'

(२) शकों का भारत आगमन

शकों के भारत आगमन का वर्णन जैन-ग्रन्थ 'कालकाचार्य कथानक' में बड़े मनोरंजक ढंग से मिलता है। उसके अनुसार आचार्य कालक 'सगकुल' जाकर उन्हें 'हिन्दुगदेश' (भारत) ले आए। शक उनके पीछे चलते हुए सिंध के तट पर पहुँचे। फिर सिन्धुनद को पार कर बढ़ते हुए सुरट्ठ (सौराष्ट्र) देश में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल' का एक अधिपति होता था 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था जब मगराज द्वितीय शक्तिमान हुआ तब उसने अपने भ्रातृबान्धव की मृत्यु का शकों से बदला लेना चाहा। उसने शाहियों या 'सगकुल' के पास अपने दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सामंत यदि अपने कुल और बंधु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो अपने सिर कटवा कर उसके पास भिजवा दें नहीं तो उसस उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर उनका सर्वनाश कर देगा। 'सगकुल इस पर बहुत भयभीत हुआ। इसी समय आचार्य कालक उनमें ठहरे हुए थे। उन्होंने उनका सत्कार और 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। इस पर ९६ शाहियों ने अपनी सेनाओं के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें से एक 'शाही' उनका अधिपति बना और उज्जयिनी को राजधानी बना शासन करने लगा। संस्कृत अनुश्रुति के अनुसार ९६ शाही मालवा की भूमि में आ बसे और इनमें से एक शेष शाहियों का अधिपति अथवा शासक बना। उसकी राजधानी उज्जयिनी हुई।

'कालकाचार्य कथानक' के अनुसार शक लोग सिन्धुनद पार करते ही सुराष्ट्र के स्वामी हो गए[2]। इससे तात्पर्य यह है कि गुजरात की ओर से चलकर सिंधपार जाने ही 'सगकुल' मिलता था। भगवान

१ युगपुराण, ९१—९७।

२ विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, डा० पाण्डेय, पृ ५०।

उनके काठियावाड़ में सीधा पहुँचने से सिद्ध होता है कि जिस स्थान से वे यहाँ आए वह सीस्तान के अतिरिक्त अन्य देश न था।

आगे इस कथा की ऐतिहासिकता पर विचार कर लेना चाहिए। प्रो० रैप्सन[1] के मतानुसार इस कथा को न हम सिद्ध और न असिद्ध ही कर सकते हैं, अपितु इसके पक्ष में ही कहेंगे, क्योंकि इसकी ऐतिहासिकता जिस राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, वह तत्कालिक उज्जयिनी की परिस्थिति से मेल खाती है। स्टेन कोनो[2] भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि वह इसकी ऐतिहासिकता से मुकर नहीं सकते। विंसेंट स्मिथ[3] भी इसका समर्थन करने से पीछे नहीं छूटे। पहले तो विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं किया। किन्तु बाद में लेखकों की इस परंपरा को मान लिया जा इसकी ऐतिहासिकता में विश्वास करते हैं।

प्रायः सभी प्रमाणों से उज्जयिनी की शकों द्वारा विजय लगभग १०० ई० पू० तथा ५७ ई० पू० के मध्य हुई आँकी जाती है[4]। और ये प्रथम युगीय शक ही प्रमाणतः मालवा से मथुरा की ओर बढ़ गये। इस प्रकार शक संभवतः मालवा से बढ़कर मथुरा के शुंगों के उत्तराधिकारी हुए। युगपुराण जो की उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्रायः प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में लिखा गया था, इस रूप में शकों की इस विजय घटना का एक समसामयिक प्रमाण सा है।[5] युगपुराण का यह शक आक्रमण १०० ई० पू० के लगभग शुंग-शासन में ही हुआ। इसकी पुष्टि रैप्सन का वह कथन कर देता है जिसमें उन्होंने कहा है कि शक रंजुबुल कुल के माथुरी तिरुक अपनी शक्ति

१ कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया १। ५७६—८०।
२ का ई ई २।१।२७।
३ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, १६१६, पृ १५१।
४ वि० स्मृ० प्र०, सं० २००१, पृ० ८।
५ वही।

तब वह के बल धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को प्रयोगामी कर वह प्रभुवंशों को नष्ट कर देगा[1]।'

(२) शकों का भारत आगमन

शकों के भारत आगमन का वर्णन जैन-ग्रन्थ 'कालकाचार्य कथानक' में बड़े मनोरंजक ढंग से मिलता है। उसके अनुसार आचार्य कालक 'शगकुल' जाकर उन्हें 'हिन्दुगदेश' (भारत) ले आए। शक उनके पीछे चलते हुए सिंध के तट पर पहुँचे। फिर सिंधुनद को पार कर बढ़ते हुए सुरट्ठ (सौराष्ट्र) देश में प्रविष्ट हुए। 'शगकुल' का एक अधिपति होता था 'साहानुसाहि'। स्वयं 'शगकुल' अनेक शाहियों में विभक्त था जब मगध विदेश शक्तिमान हुआ तब उसने अपने आलवालक की मृत्यु का शकों से बदला लेना चाहा। उसने शाहियों या 'शगकुल' के पास आगन दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सामंत यदि अपने कुल और बंधु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो अपने सिर कटवा कर उसके पास भिजवा दें नहीं तो उनसे उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर उनका वह सर्वनाश कर देगा। 'शगकुल' इस पर बहुत भयभीत हुआ। इसी समय आचार्य कालक उनमें ठहरे हुए थे। उन्होंने उनको शकस्थान छोड़ 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। इस पर ९६ शाहियों ने अपनी सेनाओं के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें से एक 'साहो' उनका अधिपति बना और उज्जयिनी को राजधानी बना शासन करने लगा। संस्कृत अनुश्रुति के अनुसार ९६ शाही मालवा की भूमि में आ बसे और इनमें से एक शेष शाहियों का अधिपति अथवा शासक बना। उसकी राजधानी उज्जयिनी हुई।

'कालकाचार्य कथानक' के अनुसार शक लोग सिंधुनद पार करते ही सुराष्ट्र के स्वामी हो गए[2]। इससे तात्पर्य यह है कि गुजरात की ओर से चलकर सिंध पार आने [illegible] 'शगकुल' मिलता था। प्रमाण

१ युगपुराण, ६१—६७।

२ विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, डा० पाण्डेय, पृ ३०।

उनके काठियावाड़ में सीधा पहुँचने से सिद्ध होता है कि जिस स्थान से वे यहाँ आए वह सीस्तान के अतिरिक्त अन्य देश न था।

थोड़ा इस कथा की ऐतिहासिकता पर विचार कर लेना चाहिए। प्रो० रैप्सन[1] के मतानुसार इस कथा को न हम सिद्ध और न असिद्ध ही कर सकते हैं, अपितु इसके पक्ष ही में कहेंगे, क्योंकि इसकी ऐतिहासिकता जिस राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, वह तत्कालिक उज्जयिनी की परिस्थिति से मेल खाती है। स्तेन कोनो[2] भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि वह इसकी ऐतिहासिकता से मुकर नहीं सकते। विंसेंट स्मिथ[3] भी इसका समर्थन करने से पीछे नहीं छूटे। पहले तो विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं किया। किन्तु बाद में लेखकों की इस परंपरा को मान लिया और इसकी ऐतिहासिकता में विश्वास करते हैं।

प्रायः सभी प्रमाणों से उज्जयिनी की शकों द्वारा विजय लगभग १०० ई० पू० तथा ५७ ई० पू० के मध्य हुई आंकी जाती है[4]। और वे प्रथम तृतीय शक हो प्रमाणतः मालवा से मथुरा की ओर बढ़ गये। इस प्रकार शक संभवतः मालवा से बढ़कर मथुरा के शुंगों के ऊपर विकारा हुए। युगपुराण जो को उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्रायः प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में लिखा गया था, इस रूप में शकों की इस विजय घटना का एक समसामयिक प्रमाण सा है।[5] युगपुराण का यह शक आक्रमण १०० ई० पू० के लगभग शुंग-शासन में ही हुआ। इसका पुष्टि रैप्सन का वह कथन कर देता है जिसमें उन्होंने कहा है कि शक रंजुवुल कुल के माथुरी क्षत्रप अपनी शकाब्द

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया १। ४७९—८०।
2. का इं इं २। १। २७।
3. आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, १९१९, पृ १२१।
4. वि० स्मृ० ग्र०, सं० २००१, पृ० ८।
5. वही।

और शाहू दोनों में पंचाल (शुंगों) और मथुरा के हिन्दू राजाओं के सिक्कों से मिलते हैं[1]। उज्जयिनी और मथुरा-विजय के कुछ ही वर्ष बाद संभवतः पाटलिपुत्र का शुंग-कुल राज-च्युत कर दिया गया। काण्वायन मंत्री वासुदेव ने अंतिम शुंगराजा विषयी देवभूति को दासी से उसकी अपनी पुत्रिका द्वारा मरवा डाला[2]। इधर शक अपने उज्जयिनी केन्द्र से भारत के अनेक प्रान्तों में फैल गए, जहाँ उनकी शक्ति का डंका कुछ काल तक बजता रहा।

शकों के उत्थान के पक्ष में एक तो राजनैतिक परिस्थिति थी दूसरे उनके राजकुलों में ऐसे अनेक प्रतापी नृपति हुए, जिन्होंने अपनी नीति तथा बल पर भारत पर काफी दिनों तक शासन किया। ये शक-कुल अपनी भौगोलिक स्थिति के अनुसार अनेक भागों में बंट गए थे।

(२) सिंध पंजाब का शक कुल

(अ) मोग—शकों के प्रारंभिक भारतीय शासन के संबंध में हमारा ज्ञान बहुत ही अपूर्ण और संदेहात्मक है। शक कुल का भारत में पहला राजा जैसा कि शाहदौर के लगभग ६० से ज्ञात होता है 'दमिजद' था। परन्तु दमिजद के बारे में हम ज्यादा नहीं जान सके हैं। उसके बाद ही दूसरा शासक, जिसको हम जानते हैं, तक्षशिला ताम्रपत्र पर मोग है। इस मोग को डा० रायचौधरी[3] ने पंजाब की नमक की पहाड़ियों वाले मरा-कूपलेख के 'मोअ' से मिलाया है जिसकी तिथि ५८ बतलायी गयी है। किन्तु उसकी तिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। यदि ५८ शक काल मान लिया जाय तो शकों का भारत में यह सबसे प्राचीन लेख होगा[4]।

---

१ इंडियन क्वायन्स, पृ० ६,११।
२ 'हर्ष चरित,' अनु० कावेल और थामस, पृ० १९३।
३ पो० हि० एन० इं० पृ० ४२०।
४ का० इं० इं०, कोनो, पृ० ११।

अब हमें दमिजद और मोग पर विचार कर लेना चाहिए। दमिजद को मोग कहा गया है या मोग को दमिजद। यह प्रश्न उठता है। मोग को माउस भी कहा गया है। यदि मोग के सिक्कों को ध्यान से देखा जाय तो यह भ्रम मिट जायगा। पंजाब म्यूजियम कैटलाग और ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग में संग्रहित इसके सिक्कों पर खरोष्ठी में 'दमि' शब्द पाया जाता है। पुराविदों के मतानुसार 'दमि' दमिजद का ही छोटा रूप है। यह दमिजद मोग का अभिसार क्षेत्र का क्षत्रप था।

महादानपति पतिक के तक्षशिला ताम्रपत्र लेख से भी मोग के नाम का पता चलता है, जो संभवतः मोग के जीवन के अंतिम काल में बना होगा। यदि संदेहास्पद सुई अभिलेख को भी देखा जाय तो मोग के शासन काल का अंतिम वर्ष ७८ ई० पू० ही ठहरता है[1]।

शहदौर अभिलेख का दमिजद और मोग के सिक्कों का 'दमि' ६५ ई० पू० में (१५५ ई० पू० यवन संवत् के अनुसार) हजारा क्षेत्र का शासक था[2]। मोग इस तिथि से कुछ पहले अपने जीवन के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश कर चुका होगा। उसके सिक्कों के प्रकार से पता चलता है कि उसने लगभग २० वर्ष शासन किया होगा[3]।

रैप्सन के मतानुसार अंतिअल्किदस के बाद तक्षशिला में उसका उत्तराधिकारी आर्केबियस था और उसके बाद मोग हुआ[4]। युग पुराण[5] से भी पता लगता है कि यवन शासन के ठीक बाद शकों

१ दि इण्डोग्रीक्स, डा० नारायण, पृ० १४४।

२ वही, पृ० १४५।

३ वही।

४ कैं० हि० इं० १। ५४६।

५ मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः। ८२।
रच्चगतं तथा युद्धं भविष्यति तु परिक्रमं।
आग्निवेश्याश्च ते सर्वे राजानो मः कृतविग्रहाः।

का आक्रमण हुआ। १०० ई० पू० के आसपास मोग ने स्वातघाटी व गंधार क्षेत्र के यवनों को हराकर उस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। चीनी स्रोतों से भी पता चलता है कि १०२ ई० पू० के लगभग फरगना क्षेत्र के किसी युद्ध-क्षेत्र पर चीनी सेना ने आक्रमण किया। इनके नामों की एकरूपता सिद्ध करती है कि वे शक थे[1]। मोग किस वंश का था, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। विंसेंट स्मिथ के अनुसार वह हिन्दू-पार्थव राजा था[2]।

एक बात जो इतिहासकारों को उलझन में डाल देती है वह शक और पह्लवों (पार्थवों) का पारस्परिक संबंध है। भारतीय साहित्य और शिलालेख अथवा अन्य लेखों में प्रायः दोनों का साथ-साथ या एक के लिए दूसरे का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी उन्हें एक दूसरे से अलग करना मुश्किल हो जाता है। इनके शासन और सिक्कों में अनेक समानताएँ हैं और कितनी ही बार तो शक और पह्लव दोनों नाम एक ही शासक-कुल में उपलब्ध होते हैं।

स्वातघाटी और गंधार (हजारा) को अपने अधिकार में कर लेने के पश्चात् मोग ने तक्षशिला को भी अपने अधिकार में किया। तक्षशिला ताम्रपत्र लेख से लियक कुसुलक और उसके पुत्र महादान पतिक के नामों का पता चलता है जिसमें मोग को 'महरयस महतस मोगस' कहा गया है। शहतोर अभिसार का दमिजद और माउस के सिक्कों का 'यमि यदि एक ही व्यक्ति हैं तो इस प्रकार एक दूसरे क्षत्रप का भी उल्लेख मिलता है। लियक कुसुलक पुत्र का

एवं नाश्यन्ति युद्धेन यथेशामाश्रिता जनाः।
शकाना च ततो राजा ह्यपत्युषी महाबला। ५०-५१।

१ हि० इण्डोग्रीक ए० नरायन।

२ अर्ली हि० इ०, विंसेंट स्मिथ, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।

३ तक्षशिला, मार्शल, १। ४८।

क्षत्रप[1] था और दमिजद अभिसार (हजारा) का[2]। दमिजद ने मोग के सिक्कों पर अपना नाम खुदवाया और लियक कुसुलक ने अपने सिक्के चलवाये[3]। यह इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों क्षत्रपों का प्रशासकीय और राजनीतिक उतना ही महत्त्व था, जितना यूनानी काल में उनके मातहत राजाओं का[1]।

साम्राज्य का स्वामी मोग शक्तिमान राजा था। तक्षशिला का ताम्रपत्र उसे 'महरयस महतस मोगस' उपाधि से विभूषित करता है। मोग के कुछ चाँदी के सिक्कों पर भी इस तरह का विरुद् मिलता है जहाँ उसे 'रजदिरजस महतस मोअस' कहा गया है[4]। तक्षशिला गंधार देश की राजधानी थी, किन्तु मोग पूरे गंधार-प्रांत का स्वामी नहीं था। तक्षशिला पर अधिकार कर लेने के बाद अपोलोडोटस के उत्तराधिकारियों में राज्य का बँटवारा हो गया। एक झेलम नदी के पूरब बस गया और दूसरा सिन्धु-नद के पश्चिम। झेलम दोआब मोग के अधिकार में था। अब प्रश्न उठता है, उसने किस तरह अपने राज्य का विस्तार किया। उसके सिक्कों के प्रसार व प्रचार से मालूम पड़ता है कि वह पश्चिम की ओर बढ़ा था, जहाँ निशामित और पदच्युत राजा स्ट्रैटो की पद उसकी सत्ता जिमाने में सहायता भी करता है। इस प्रकार सहायता कर मोग सिन्धु के पश्चिम और आगे बढ़ गया होगा और पश्चिमी गंधार के कुछ भाग को अधिकार में कर लिया होगा। लियक कुसुलक पूरब में उसका क्षत्रप था और पूरब में पश्चिमी गंधार का कुछ भाग रहा ही होगा—मार्शल का ऐसा विचार है।

---

१ का० इं० इं०, कोनो, पृ० २३।

२ दमिजद, ब्रि० म्यू० कै० पृ० ६८-६९, ७० प्लेट १६। १। ६, प्लेट १७। ३; पं० म्यू० कै० पृ० १०२ नं० २८। लियक कुसुलक कै० हि० इ० प्लेट० ८। ४२।

३ हि० इण्डोग्रीक, ना० नारायण, पृ० २६७।

४ कैटलाग, स्मिथ, पृ० ३९।

का आक्रमण हुआ। १०० ई० पू० के आसपास मोग ने स्वातघाटी व गंधार क्षेत्र के यवनों को हराकर उस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। चीनी स्रोतों से भी पता चलता है कि १ २ ई० पू० के लगभग फरगना क्षेत्र के किसी सु-कु-अ पर चीनी सेना ने आक्रमण किया। इनके नामों की एकरूपता सिद्ध करती है कि वे शक थे[१]। मोग किस वंश का था, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। विन्सेंट स्मिथ के अनुसार वह हिन्दू-पार्थव राजा था[२]।

एक बात जो इतिहासकारों को उलझन में डाल देती है, वह शक और पह्लवों (पार्थवों) का पारस्परिक संबंध है। भारतीय साहित्य और शिलालेख अथवा अन्य लेखों में प्रायः दोनों का साथ-साथ या एक के लिए दूसरे का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी उन्हें एक दूसरे से अलग करना मुश्किल हो जाता है। इनके शासन और सिक्कों में अनेक समानताएँ हैं और कितनी ही बार तो शक और पह्लव दोनों नाम एक ही शासक-कुल में उपलब्ध होते हैं।

स्वातघाटी और गंधार (हजारा) को अपने अधिकार में कर लेने के पश्चात् मोग ने तक्षशिला को भी अपने अधिकार में किया। तक्षशिला ताम्रपत्र लेख से लियक कुसुलक और उसके पुत्र महादान पति पतिक के नामों का पता चलता है जिसमें मोग को 'महरयस महतस मोगस' कहा गया है। शहडौर अभिलेख का दमिजद और माउस के सिक्कों का 'दमि' यदि एक ही व्यक्ति हैं तो इस प्रकार एक दूसरे क्षत्रप का भी उल्लेख मिलता है। लियक कुसुलक पुत्र का

एवं मास्यन्ति युद्धेन पर्यौशामाश्रिता जनाः।
शकाना च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबलाः। ५०-५३।

१ दि० इण्डोग्रीक ब्रा० नरायन।
२ अर्ली हि० इ०, विन्सेंट स्मिथ, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।
३ तक्षशिला, मार्शल, १।४८।

क्षत्रप[1] था और इमित्रद अभिसार (हजारा) का[1]। इमित्रद ने मोग के सिक्कों पर अपना नाम खुदवाया और लियक कुसुलक ने अपने सिक्के ढलवाये[2]। यह इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों क्षत्रपों का प्रशासकीय और राजनीतिक उतना ही महत्त्व था, जितना यूनानी काल में उनके मातहत राजाओं का[3]।

साम्राज्य का मालिक मोग शक्तिशाली राजा था। तक्षशिला का ताम्रपत्र उसे 'महरजस महंतस मोगस' उपाधि से विभूषित करता है। मोग के कुछ चाँदी के सिक्कों पर भी इस तरह का विरुद् मिलता है जहाँ उसे 'रजतिरजस महतस मोअस' कहा गया है[4]। तक्षशिला गंधार देश की राजधानी थी, किन्तु मोग पूरे गंधार-प्रांत का स्वामी नहीं था। तक्षशिला पर अधिकार कर लेने के बाद अपोलोदोतस के उत्तराधिकारियों में राज्य का बँटवारा हो गया। एक झेलम नदी के पूरब बस गया और दूसरा सिन्धुनद के पश्चिम। झेलम दोआब मोग के अधिकार में था। अब प्रश्न उठता है, उसने किस तरह अपने राज्य का विस्तार किया। उसके सिक्कों के प्रसार व प्रचार से मालूम पड़ता है कि वह पश्चिम की ओर बढ़ा था, जहाँ निराश्रित और पददलित राजा स्ट्रेटो की वह उसकी उस विपत्ति में सहायता भी करता है। इस प्रकार सहायता कर मोग सिन्धु के पश्चिम और आगे बढ़ गया होगा और पश्चिमी गंधार के कुछ भाग को अधिकार में कर लिया होगा। लियक कुसुलक पुष्प में उसका क्षत्रप था और पुष्प से पश्चिमी गंधार का कुछ भाग रहा ही होगा—मार्शल का ऐसा विचार है।

---

१ का० इं० इं०, कोनो, पृ० ११।

२ इमित्रद, ब्रि० म्यू० कै० पृ० ६८-६९, प्लेट १६। १। ६, प्लेट १७। १ पं० म्यू० कै० पृ० १०२ नं० २८। मिलाइए कैम सब कै० हि० इं० प्लेट० ८। ४२।

३ हि० इण्डोग्रीक्स, डा० नरायन, पृ० १४७।

४ कैटलाग, स्मिथ, पृ० ३६।

इस प्रकार सिंधु के निचले काँठे, गंधार का पश्चिमी प्रदेश तथा पश्चिमी पंजाब पर मोग का अधिकार था। यदि मानसेरा अभिलेख १८ का लिपक तक्षशिला लेख का ही लिपक कुसुलक है तो मोग के राज्य की सीमा कश्मीर तक चली जाती है[१]।

इस प्रकार हम मोग के राज्य की सीमा तो निर्धारित कर देते हैं किन्तु उसके राज्य की पूर्वी सीमा का निर्धारण करना थोड़ा कठिन है। यह माना जा चुका है कि मिलिन्द के सिक्कों के 'एथेना आल्किस' प्रकार का मोग ने अनुकरण नहीं किया अतएव मिलिन्द के राज्य पूर्वी झेलम-प्रदेश, पर कभी शासन नहीं किया[२]। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार मिलिन्द की सत्ता का मुख्य केन्द्र पूर्वी पंजाब का प्रदेश था। परन्तु मिलिन्द के सिक्के मुख्यतः काबुल में मिले हैं। पूर्वी पंजाब में बहुत कम प्राप्त हुए हैं। मिलिन्द प्रश्न में स्यालकोट को मिलिन्द की राजधानी बतलाया गया है।[३] किन्तु डाक्टर दत्त ने काबुल को उसकी राजधानी बतलाया है[४]। कोनो ने मथुरा सिंह शीर्षक लेख के 'मुकी को तक्षशिला ताम्रपत्र लेख के मोग से मिलान कर पूर्व में मोग के राज्य-सीमा को मथुरा तक खींचने का प्रयास किया[५] है। किन्तु लेख का पाठ भ्रमात्मक है। अतएव उसके बारे में कुछ कहा

---

१ दि० शकाज इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० १६।

२ प्री० कै० इ०, पृ० १९२ नो०।

३ सर्वपानुसृषत। अस्ति योनकानं नानापुटभेदनं सागलनाम नगरं नदीपब्बतसोभितं रमणीयभूमिप्पदेसभागं...
फ्लीट ने सागल का स्यालकोट से समीकरण किया है। किन्तु विपरीत मत के लिए देखिए—दि इण्डोग्रीक्स (डा० नरायन) पृ० १७२ ३।

४ तक्षशिला, मार्शल, १। ८६१।

५ कार्पस इं० इं० २।१।३५।

नहीं जा सकता[१]।

अय : मोग का उत्तराधिकारी कौन हुआ यह प्रश्न उठता है। साधारणतः पुराविद् तक्षशिला में मोग का उत्तराधिकारी 'अय' को मानते हैं। किन्तु यहाँ एक मूल प्रश्न उठता है और वह यह कि अय कौन था? शक अथवा पह्लव। विद्वानों में इस पर मतभेद है। विद्वानों के एक मत के अनुसार अय इण्डो-पह्लव कुल का पहला राजा वोनोन का वंशज था। अतएव वह भी पह्लव था। विद्वानों के दूसरे मत के अनुसार अय पह्लव और वोनोन के वर्ग का नहीं बल्कि मोग के वर्ग का और शक था। अय किस वर्ग के राजाओं में आता है यह तो विवादास्पद है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह शक था क्योंकि उसके नाम के अक्षर उसको शक ही बतलाते हैं। उसके शक होने के संबंध में प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं।[२] नामकरण के इस सिद्धान्त ने विद्वानों में यह सोचने की प्रवृत्ति पैदा कर दी कि वोनान और मोग दोनों एक ही वंश के थे। रैप्सन, विंसेंट स्मिथ, आदि मुद्राशास्त्रियों ने वोनोन का मोग के ही वंश का बतलाया है।[३] इस प्रकार वोनोन जो कि अय वर्ग के राजाओं में पहला राजा था पूर्वी ईरान में शासक हुआ और पह्लव नाम धारण किया। वह शकस्थान के हाइमन्द प्रदेश का, जहाँ शक मिथ्रदात द्वितीय के भय से आ बसे थे, शासक था। उसने पह्लव नाम संभवतः मिथ्रदात द्वितीय के क्रोध को ठण्डा करने के लिए धारण किया होगा। मोग संभवतः वहाँ से भाग आया होगा और तक्षशिला में नए राज्य की स्थापना की होगी। अय, मोग, एवं वोनोन सब एक ही वंश के

---

१ दि शकाज इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ २०।

२ नामकरण के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—गलत भी हो सकता है।

३ इंडियन क्वायन्स, पृ० ८।

थे, इसका समर्थन कनिंघम ने भी किया है। उनके अनुसार[1] घुड़सवार प्रकार सर्वप्रथम मोग द्वारा प्रयुक्त किया गया, बाद में यह दोनों शासकों में प्रयुक्त किया जाने लगा। इससे विदित होता है कि सब एक ही जाति के थे।

रैप्सन, स्मिथ आदि विद्वानों के अनुसार वोनोन के बाद अय हुआ।[2] किन्तु व्हाइटहेड इसके बिलकुल विपरीत कहते हैं।[3] उनके अनुसार-मुद्राशास्त्रविद साधारणतया अनुमान करते हैं कि मोग के बाद अय हुआ। मोग के उपरांत वोनोन कंधार और सीस्तान का शासक हुआ और अय ने पंजाब पर अधिकार किया।[4] गार्डनर[5] और थामस ऐसे इस मत के प्रवर्तक हैं। परंतु यह मत साधारणतः सब लोग स्वीकार नहीं करते।[6] अतः दूसरे प्रमाणों के अभाव में हमें रैप्सन और स्मिथ के ही मत को ग्रहण करना चाहिए।[7] वामान की कोई स्वतंत्र मुद्रा अब तक नहीं मिली है, जिन मुद्राओं पर उसका नाम है उनमें से कई मुद्राओं पर एक ओर उसका नाम और दूसरी ओर उसके भाई स्पलहोर का नाम है। एक ओर यूनानी अक्षरों में वोनोन का नाम और दूसरा ओर खरोष्ठी अक्षरों में स्पलहोर का नाम मिलता है। कई मुद्राओं में एक ओर वोनोन का नाम और दूसरी ओर स्पलहोर के पुत्र स्पलगदम का भी नाम मिलता है। कुछ सिक्कों पर स्पलिरिष नामक शासक का भी नाम अंकित मिलता है। उन सिक्कों पर एक ओर यूनानी अक्षरों में स्पलिरिष का नाम और उपाधि और

१ न्यूमिसमेटिक क्रॉनिकल, १८८८-९२, पृ १३०।
२ इं म्यू कै, नं १ पृ ४०—४१।
३ पं म्यू कै, नं १ पृ १३—४।
४ वही पृ ९३।
५. ब्रि. म्यू कै पृ ४१।
६ प्राचीन मुद्रा पृ. ८।
७ वही।

दूसरी ओर—महरज भ्रत भ्रमियस स्पलिरिसस—लिखा हुआ है। ऐसे सिक्के सब प्रकार से वोनोन और स्पलहोर के नामों वाले चाँदी के सिक्कों के समान हैं। स्पलिरिष के पुछ सिक्कों पर एक ओर स्पलिरिष और दूसरी ओर अय का भी नाम मिलता है। एक प्रकार के सिक्कों में एक ओर मोग और दूसरी ओर अय का भी नाम है। इससे मुद्रातत्त्वविद् व्हाइटहेड अनुमान करते हैं कि वोनोन का अय के साथ कोई संबंध नहीं था। किन्तु हम देख चुके हैं कि एक ही सिक्के पर अय के साथ स्पलिरिष का नाम भी मिलता है।[१] स्पलिरिष का सिक्का देखने से स्पष्ट है कि उसके साथ वोनोन का निकट संबंध था। ऐसी दशा में यह नहीं माना जा सकता कि वोनोन के साथ अय का कोई संबंध नहीं था।[२]

अब प्रश्न उठता है कि पूर्वी ईरान के शकस्थान का अय तक्षशिला कैसे पहुँचा और तक्षशिला और पूर्वी ईरान के अय क्या एक ही व्यक्ति थे?

इस प्रश्न का समाधान डा० दिनेशचंद्र सरकार[३] ने किया है। उनके अनुसार यह अय (मोग का उत्तराधिकारी, तक्षशिला का) और कोई नहीं पूर्वी ईरान के वोनोनवंशी स्पलिरिष का ही सहयोगी था जिसके शासन का प्रसार दक्षिणी अफ़गानिस्तान तक हो चुका था। चीनी इतिहास,[४] हाउ हान शू भी इस पर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार काबुल के शक राजकुल का अंत कुषाणों ने नहीं बल्कि पह्लवों ने किया। अय प्रथम के काबुल-घाटी में सिक्के पाये गए हैं।[५] डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने भी व्हाइटहेड का हवाला देते

१ पं० म्यू० कै०, नं० १, पृ० १४१ नं० ३६४।
२ प्राचीन मुद्रा, पृ० ८३।
३ दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० १२१।
४ भाग ८८।
५ कै० हि० इं०, नं० १ पृ० ५७१ ए।

हुए लिखा है कि पार्थवों द्वारा ग्रीक विजित किए गए जिसके थोड़े ही दिनों बाद ग्रीक प्रतिक्रिया भी काबुल में हुई।[1] इस प्रकार इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि पूर्वी ईरान का अय तक्षशिला काबुल-विजय करके पहुँचा था और तक्षशिला एवं पूर्वी ईरान के अय एक ही व्यक्ति थे।

विजय और राज्य-सीमा जिन प्रदेशों को मोग जीत नहीं सका था उनको अय' ने अपने शासनाधीन कर लिया। पश्चिमी गंधार प्रदेश में उस समय यवन राजा हिपोस्त्रात शासन करता था। वह शक्तिशाली था। सम्भवतः इसीलिए मोग पूरे पश्चिमी गंधार प्रदेश को अपने शासनाधीन न ला सका होगा। किन्तु अय ने उसको हराया और उसके सिक्कों पर अपना ठप्पा लगा कर चलाया।[2] पश्चिमी-गंधार प्रदेश का ग्रीकों के हाथ से निकल जाने का प्रभाव ग्रीकों के पूर्वी काबुल के इलाकों पर पड़े बिना न रह सका। उनका यह पराभव उनके पतन का कारण बना। परंतु काबुल घाटी में अय के उतने अधिक सिक्के नहीं मिल सके हैं जितना कि आरकोशिया और गंधार में मिले हैं। इससे प्रमाणित होता है कि अय उस प्रदेश में उतना अधिक शासन नहीं कर सका होगा जितना उसने गंधार और आरकोशिया में किया। उसने मोग के राज्य को अधिकार में रक्खा।

अय का न तो कोई खुदा हुआ लेख मिलता है और न किसी पश्चिमी अथवा पूर्वी ऐतिहासिक ग्रन्थ में उसका कोई उल्लेख ही मिलता है। किन्तु इस राजा के अभिलेखों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डा० त्रिपाठी ने यह सुझाव दिया है कि संभवतः यह कलवान अभिलेख का 'अय' अथवा 'अज' है। उन्होंने तक्षशिला के

---

१ दि शकाज इन इंडिया, पृ० २२ [विद्वान लेखक ने सिर्फ टार्न का हवाला दिया है और उसी को प्रमाण मान लिया है। पाद टिप्पणी में टार्न से कोई संदर्भ उद्धृत नहीं किया]

२ पं० म्यू० कै० सं० १ पृ० १२२।

रजत-लेख के 'अय' से भी इसका संबंध होने का अनुमान किया है।[1] इनमें से पहला लेख ११८वें साल का और दूसरा १३६वें साल का है। परंतु उनमें संवत् का उल्लेख न होने से इनमें से किसी अय की तिथि निश्चित करनी कठिन है। वैसे तक्षशिला के पास के कलवान-लेख के १३४ को स्टेन कोनो ने विक्रम-संवत् में निर्दिष्ट माना है।[2] यदि इस अनुमान को सत्य माना जाय तो अय को (१३४-५८)=७६ ई० में राज्य करना चाहिए किन्तु इस गणना को मानने से अय मोग से बहुत दूर जा पड़ता है। कुछ विद्वानों ने उसे ५८ ई० पू० में आरम्भ होने वाले विक्रम संवत् का प्रवर्तक माना है परंतु इस सिद्धान्त के पक्ष में विशेष प्रमाण नहीं है।

अय के कई प्रकार के सिक्के मिले हैं। विंसेंट स्मिथ के अनुसार अय नाम के दो राजा हुए थे।[3] परंतु ह्वाइटहेड अय नाम के एक से अधिक राजा का अस्तित्व मानने के लिए तैयार नहीं हैं।[4] यदि प्रमाणों की छान-बीन की जाय तो ह्वाइटहेड के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। डा० स्मिथ का ही सिद्धान्त प्रमाणित होता है। डा० स्मिथ के मतानुसार खुदाई में जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें से ऊपरी स्तर में पाये गए सिक्के अय द्वितीय के एवं नीचे मिले हुए सिक्के अय प्रथम के हैं। मार्शल ने भी इस मत की पुष्टि की है और अय प्रथम तथा अय द्वितीय को दो भिन्न व्यक्ति माना है[5]। डा० रमाशंकर त्रिपाठी[6] ने भी दो अयों की सत्ता में विश्वास करते हुए कहा है—कुछ विद्वान दोनों अयों को एक ही व्यक्ति मानते हैं परंतु

१ हि० ए० इं० पृ० २२१ १८ नोट।
२ एपि० इं० २१ पृ० २५५, २५६।
३ इं० म्यू० कै० वॉ० १, पृ० ४१, ४२।
४ पं० म्यू० कै० वॉ० १, पृ० ९९।
५ ज० रा० ए० सो० १९१४, ९७९।
६ प्रा० भा० इ० पृ० १९३।

उनको पृथक मानना ही समीचीन जान पड़ता है। इस प्रकार दो अयों की सत्ता सिद्ध हो गयी। अब प्रश्न उठता है कि अय प्रथम के बाद ही अय द्वितीय आया अथवा उनके बीच भी कोई हुआ। सिक्कों के प्रमाण पर यह अनुमान किया जाता है कि अय प्रथम के उपरांत एयिलिसेस राजा हुआ। कुछ मुद्राओं पर एक ओर यूनानी भाषा में एजेस का और प्राकृत भाषा में एयिलिसेस का नाम अंकित है जिससे यह पता चलता है कि दोनों ने संयुक्त शासन किया। एयिलिसेस के पश्चात् अय द्वितीय पंजाब और सिंध का शासक हुआ। अय द्वितीय के बाद शक राजसत्ता इस प्रदेश से विनष्ट हो गयी और उस पर गोण्डोफर्नीज का अधिकार स्थापित हो गया। यह पार्थव था। पेशावर जिले में प्राप्त तख्तेबाही लेख से ज्ञात होता है कि इन पार्थवों ने गंधार प्रदेश पर अधिकार किया था। यह उस अनुश्रुति से भी मालूम होता है जिसमें थामस नामक एक पार्थव व्यक्ति द्वारा ४६-४८ ईस्वी में तक्षशिला में शासन किया जाना कहा गया है। इस बात की पुष्टि तब और हो जाती है जब हम यह जानते हैं कि उत्तर-पश्चिमी जिलों का शक-नृपति अय द्वितीय का शासक अस्पवर्मन गोण्डोफर्नीज को भेंट दिया करता था। यह भारतीय नृपति अस्पवर्मन के सिक्कों से स्पष्ट हो जाता है। इन सिक्कों के लेखों से ज्ञात होता है कि अस्पवर्मन पहले तो अय द्वितीय का सामंत नृपति था किन्तु गोण्डोफर्नीज के आने पर वह उनका करदायी शासक बना। अस्पवर्मन का उत्तराधिकारी सस गोण्डोफर्नीज के बाद उनके उत्तराधिकारी पकोरिज को भेंट दिया करता था। यह सिक्कों से प्रमाणित होता है। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर एक ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति और दूसरी ओर खड़े हुए ज्यूपिटर की मूर्ति है किन्तु खरोष्ठी अक्षरों में—जयतस ध्रमिअस इन्द्रवर्मपुत्रस स्त्रतेगस अस्पवर्मस—लिखा हुआ है।[1] उनके अन्य प्रकार के सिक्कों पर

१. [illegible]

दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों में गुदुफर के नाम और उपाधि के साथ 'सस' नामक एक राजा का नाम मिलता है। यह 'सस' सेनापति अस्पवर्मन का भतीजा था क्योंकि तक्षशिला के खण्डहरों में मिले हुए चाँदी के एक सिक्के पर—महरजस अस्पभ्रत पुत्रस भ्रतरस ससस—लिखा हुआ है।[1]

(४) चुक्ष और छहर का क्षत्रप कुल : चुक्ष तक्षशिला के अंतर्गत आता है। चुक्ष के शासक को 'क्षत्रप' कहा गया है। चुक्ष का शासक कौन था और उसके बारे में लिखने के पूर्व हम 'क्षत्रप' शब्द पर विचार कर लेना चाहेंगे। प्राचीन काल में फारस में प्रान्त के शासक को 'क्षत्रपावन' कहा जाता था[1]। इसीसे संस्कृत का 'क्षत्रप' और ग्रीक-रोमकों का 'सैत्रप' बना[2]। ईरानी पार्थवों के राजत्वकाल में प्रान्तीय शासक की 'क्षत्रपावन' शासकीय संज्ञा थी। परन्तु शकों ने किस कारण राजा अथवा सामंत के अर्थ में इसको व्यवहृत करना स्वीकार किया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों के अनुसार शकों ने जब ईरानी पार्थवों से मुँह मोड़ा तो भारत की ओर मुड़े और तब उनको इस बात में सहूलियत हुई कि वे अपने को उनका प्रतिनिधि घोषित करें। वैसे तो वे भारतीय प्रान्तों के स्वयं विजेता थे, फिर भी उन्होंने अपने को उनका प्रान्तीय शासक ही कहा। इससे उनकी स्वतंत्रता में कभी बाधा न पड़ा। इससे यह न समझना चाहिए कि वे भारत में सर्वथा स्वतंत्र न थे अथवा ईरानी-पार्थवों के प्रति उनका किसी प्रकार का उत्तरदायित्व अथवा सरोकार था। यथार्थ में 'क्षत्रप' पहले माण्डलिक राजा थे बाद में स्वतंत्र राजा 'महाक्षत्रप' कहलाये। क्षत्रप और महाक्षत्रप विरुदों का एक दूसरे प्रकार से भी व्यवहार हुआ है। क्षत्रपियों में 'महाक्षत्रप

१ ज० रा० ए० सो० १९१४ पृ० ६८०।

२ एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० ११२।

३ प्राचीन भारत का इतिहास, डा० उपाध्याय, पृ० २०६।

अपने पुत्र की सहायता से राज्य करता था, जिसे केवल 'क्षत्रप' कहते थे। इस व्यवस्था में क्षत्रप-पद भारतीय 'युवराज' के पद से मिलता-जुलता था। जिस प्रकार युवराज पिता की मृत्यु के बाद 'राजा' की संज्ञा से विभूषित होता था उसी प्रकार 'क्षत्रप' भी पिता के पश्चात शासन का पूरा भार सम्भालकर 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण करता था[1]।

मोग का पुत्र व क्षत्रप लियक कुसुलक था। यह लियक मल्लसरा अभिलेख ७८ का लियक ही है[2]। इसका एक पुत्र था, जिसका नाम तक्षशिला ताम्रपत्र[3] में मिलता है। ये दोनों पिता-पुत्र राजाधिराज मोग के चुक्ष और छहर नामक जिलों के सत्ताधिकारी और शासक थे। पतिक बाद में महाक्षत्रप उपाधि धारण कर लेता है। मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख में उसके लिए 'महाक्षत्रप कुसुलक पतिक' का उल्लेख हुआ है। किन्तु विद्वानों में मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख के पतिक और तक्षशिला ताम्रपत्र लेख के पतिक को लेकर मतभेद है। फ्लीट ने[4] दो पतिक की प्रामाणिकता को माना है। किन्तु स्टेन कोनो और मार्शल ने मथुरा और तक्षशिला के पतिक को एक ही बतलाया, उनमें भिन्नता का चिह्न एक का रख बतलाया उन दोनों लेखों के पृथक-पृथक संवत्। दूसरे शब्दों में जहाँ फ्लीट दो राजाओं की प्रामाणिकता का निरूपण करते हैं वहाँ ये दोनों विद्वान सम्भवतः संवत् का[5] एक पतिक के होने के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए यदि यह कहा जाय कि मथुरा और तक्षशिला के क्षत्रप-कुलों में सम्बंध स्थापित हो गया था तो कोई अनुचित न होगा—मथुरा सिंह

---

१. वही पृ० ९७।
२. दि शकाज इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० १९।
३. एपि० इं० ४। ५५।
४. ज० रा० ए० सो० १९०७ पृ० १०३५।
५. पी० हि० ए० इं० पृ० ३८५।

शीर्ष की स्थापना करने वाली 'महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी' ने शाक्यमुनि का शरीरधातु प्रतिष्ठापित करते हुए यह कामना की थी कि उसका यह दान "महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक की पूजा के लिए, सब बुद्धों, धर्म और संघ की पूजा के लिए और समूचे शकस्थान की पूजा के लिए" हो[1]।

(४) मथुरा के क्षत्रप—मथुरा के शकों के बारे में लिखने से पूर्व हम यह जान लेना चाहेंगे कि ये कहाँ से और कैसे आए। इनके कहाँ से और कैसे आने का बयान जैन ग्रन्थ 'कालकाचार्य कथानक' में हुआ है।[2]

यह 'कथानक' प्रभावकचरित नामक एक जैन ग्रन्थ का अंग है। इसके लेखक प्रभाचन्द्रसूरि थे। यह कथानक एक जैन भिक्षु, कालकसूरि, के जीवनचरित को वर्णित करता है जिससे पता चलता है कि शकों ने भारत पर आक्रमण किया था और उज्जयिनी को जीत लिया था। इसके बाद विक्रमादित्य ने अपनी शक्ति को संगठित कर, शकों का उच्छेद कर, उज्जयिनी को उनसे छीन लिया और इस विजय के स्मारक-स्वरूप विक्रम संवत् चलाया। इस कथानक के कुछ भाग को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

धारावर्ष नामक एक नगरी थी। वहाँ वीरसिंह नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा बहादुर था। उसका एक पुत्र और एक पुत्री थी। कालक और सरस्वती उनका नाम था। गुणाकर नामक जैन भिक्षु से प्रभावित होकर दोनों भाई-बहन जैन भिक्षु हो गए। भिक्षाटन करते-करते उज्जयिनी पहुँचे। गर्दभिल्ल वहाँ का राजा था। वह बड़ा ही कामुक था। सरस्वती के रूप पर वह मुग्ध था। उसने अपने आदमियों को भेजकर बलपूर्वक उसे अपने रनिवास में फिर

१ एपि० इं० ९। १३९।

२ ज० बॉ० ब्रां० रा० ए० मा० ९। १४०–१५७।

कर लिया। यह समाचार दावाग्नि की तरह चारों तरफ फैल गया। लोगों ने तथा कालकसूरि ने भी राजा को भिक्षुणी को छोड़ देने के लिए समझाया। किन्तु उस पर तो सरस्वती की रूप-सुधा चढ़ी थी। किसी के समझाने का प्रभाव उस पर न पड़ा। कालक नामक क्षत्रीय जैन भिक्षु ने प्रतिज्ञा की कि जब तक वह इस दुराचारी राजा को अपदस्थ नहीं कर देगा, अपने को मानवता की हत्या का भागी समझेगा।

कालकसूरि पागल सा इधर-उधर भटकने लगा। वह सिंधु पार कर शकों के देश चला गया। वहाँ रहकर अपने ज्योतिष-ज्ञान से उनको प्रभावित किया। वहाँ ९६ शक कुल थे। उनका एक अधिपति था। वह बड़ा प्रतापी था। एक बार वह ९५ शाहियों से नाराज हो गया और कहला भेजा कि शकों के सामंत यदि अपने कुल और बंधु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो अपने सिर कटवाकर उसके पास भिजवा दें नहीं तो उससे उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर वह उनका सर्वनाश कर देगा। 'शक-कुल' इस पर बहुत भयभीत हुआ। आचार्य कालक जो कि वहीं ठहरे हुए थे, उन्होंने सौराष्ट्र छोड़ 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। शक उसके पीछे चलते हुए सिंधु नद को पार कर 'सुरठ' (सौराष्ट्र) में प्रविष्ट हुए। बरसात का मौसम होने के कारण वे वहीं रुक गए और उसको ९५ शाहियों में विभाजित कर दिया। अपनी शक्ति को एकत्रित तथा मजबूत करके उन्होंने पांचाल लाट तथा मालवा पर चढ़ाई कर दी। मालवा की राजधानी अवंति थी। गर्दभिल्ल की अपनी सेना और जादू पर भरोसा था। शकों से भयंकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की हार हुई। यह जानकर कि दिन पूरे मैदान में उसकी हार निश्चित है वह किले में चला गया और अपने जादू का सहारा लिया। जब कालकसूरि ने यह सुना तो उसने शक सामंतों को इस बात की जानकारी दी कि वे अपना काम बंद कर दें जिससे 'गर्दभी' का मुंह न खुले। ऐसा करने से गर्दभिल्ल का जादू उन पर नहीं चल पायेगा। उसने कुछ शक तीरंदाजों का

भी गर्दभिल्ल के मुंह खोलने से पूर्व ही मुंह बंदकर देने की हिदायत दी। एक निश्चित समय पर गर्दभिल्ल के मुंह खोलने तथा शब्द निकालने से पूर्व ही शक तीरंदाजों ने उसके मुंह में तीर भर दिया। वह बोल न सका। शक विजयी हुए। कालक की बहन सरस्वती स्वतन्त्र हुई।

इस घटना के कुछ ही कालोपरांत श्री विक्रमादित्य ने इन शकों को वहां से खदेड़ दिया और अपने नाम का संवत् चलाया। वहां से निकाले जाने पर कुछ शक मथुरा चले गए कुछ अपनी प्राचीन भूमि शकद्वीप में बस गए[1]।

मथुरा के शक-कुल के बारे में पर्याप्त प्रकाश मथुरा सिंह शीर्ष लेख डालता है। इस लेख से, जिसे कि पूर्णरूपेण ईरानी प्रभाव में बना हुआ कहते हैं, इस कुल के क्रम का पता चलता है[2]।

(६) मथुरा सिंह शीर्ष लेख : मथुरा प्रदेश पर शकों ने कब अधिकार किया इस पर मतैक्य नहीं है। मथुरा सिंह शीर्ष लेख का अर्थ लगाते हुए कोनो ने कहा है कि युवराज खरोष्ठ राजुल का श्वसुर था और भाग के बाद वही 'शासक' हुआ[3]। यदि अभिलेख का यह अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो मथुरा प्रदेश का शकों के अधिकार में होना भाग के शासन काल में ही निर्धारित हो जाता है, परन्तु थामस[4] ने इसका कुछ भिन्न अर्थ लगाया है। उनके अनुसार महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी, अयसि कामुइआ की पुत्री, युवराज खरोष्ठ की मां थी जिसका नाम नंदसि अकसा था। इस अर्थ से, जिसको कि डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने भी स्वीकार किया है,[5] युव

---

१ ज० ई० हि०, कोनो, १२।२१।
२ दि शकाज इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० २०।
३ का० ई० ई० २।१९।
ए० इ० ९।१४१।

राज खरोष्ठ की स्थिति महाक्षत्रप राजुल से निम्न जान पड़ती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठ राजुल का पुत्र था और संभवतः पिता के जीवन-काल में ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका भाई शोडास उत्तराधिकारी हुआ। पिता की मृत्यु के बाद संभवतः शोडास ने महाक्षत्रप उपाधि धारण किया।

(अ) राजुल मथुरा नगरी का प्रथम शासक राजुल था। यह महाक्षत्रप शोडास का पिता था। मथुरा के निकट मोरा नामक स्थान पर एक शिला लेख से राजुल का महाक्षत्रप होने का पता चलता है। परिश्रम से बढ़ कर उसने यवन सत्ता का ह्रास किया। इसका पता उसके स्ट्रेटो प्रथम व द्वितीय के सिक्कों के अनुकरण से प्रमाणित होता है। अतः राजुल के शासन का मुख्य गढ़ पूर्वी पंजाब था और मथुरा को उसने बाद में जीता।[1] मथुरा में कुछ हगान और हगामष के सिक्के मिले हैं जिन्होंने संभवतः कुछ काल तक सम्मिलित शासन किया।[2] इन सिक्कों के प्रकार मथुरा के पंचाल (शुंग) शासकों के सिक्के से मिलते-जुलते हैं। इससे पता चलता है कि हगान और हगामष, गोमित्र और रामदत्त, मथुरा के आस-पास के शासकों, को हटाकर स्वयं वहाँ के शासक बन बैठे। यदि राजुल ने भी मथुरा पर शासन किया है तो उसने हगान और हगामष के पश्चात् ही शासन सूत्र को संभाला होगा।[3]

(आ) शोडास—राजुल के बाद उसका पुत्र शोडास उत्तराधिकारी हुआ। पिता की मृत्यु के बाद ही यह महाक्षत्रप उपाधि धारण किये होगा क्योंकि मथुरा सिंह शीर्ष लेख में यह सिर्फ क्षत्रप कहा गया है। उसके बाद के ही आमोहिनी लेख[4] में, जिसकी तिथि निर्धारित

१ दि शकाज इन इंडिया, चट्टोपाध्याय, पृ० ६८।
२. वही।
३ ब्रि० म्यू० कै० क्वा० ए० ई० एलेन, पृ० ११५।
४ एपि० इं० २ । १९९, एपि० इं० ९ । २४१ ।

प्रस्त है, शोडास को महाक्षत्रप कहा गया है। शोडास के सिक्के और अभिलेख दोनों मथुरा में पाये गये हैं। एक सिक्के में वह 'महक्षत्रपस पुत्रस क्षत्रपस संडसस' कहा गया है। पहले क्षत्रप था[१] पर बाद में जैसा कि अमोहिनी लेख से ज्ञात होता है, महाक्षत्रप हुआ। उसके सिक्के मथुरा के आसपास ही मिले हैं, पूर्वी पंजाब में उसके सिक्के नहीं मिलते। अतएव उसके राज्य की सीमा को मथुरा के आसपास तक ही निर्धारित करना होगा।

(२) राज्य विस्तार—सिक्कों के प्रसार के आधार पर हम राजुल और शोडास के राज्य की सीमा का निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जहाँ-जहाँ उसके सिक्के पाये गये हैं वह क्षेत्र उसके राज्यान्तर्गत ही हो। सिक्के तो व्यापारियों के साथ भी हटते-बढ़ते रहते हैं। राजुवुल के बड़ी-तादाद में मथुरा में सिक्के मिले हैं। इस प्रकार उसके राज्य की सीमा पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से लेकर पूरब में मथुरा तक थी।[२] चूँकि पूर्वी पंजाब में शोडास के सिक्के पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते हैं अतः हम उसके राज्य की सीमा-रेखा मथुरा के आसपास ही खींचेंगे[३]।

(३) खरपल्लान—सारनाथ में प्राप्त एक अभिलेख से, जिस पर कनिष्क के काल का ३ अंकित है, पता चलता है कि महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर कनिष्क को भेंट दिया करते थे। ये उसके अधीनस्थ शासक थे।[४] ये संभवतः शोडास के वंशज थे।[५] खरपल्लान ने कनिष्क की सत्ता को स्वीकार कर लिया था और उसका

१ कार्पस आफ दी इन्डोसीथियन्स, कनिंघम, प्लेट नं १२, सिक्का नं १२ पृ० १०१।
२. कार्पस आफ शकास कनिंघम, पृ० २४।
३ दि शकास इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० २६।
४ एपि० इं०, फोगल, ८।१७३।
५ दि शकास इन इंडिया, डा० चट्टोपाध्याय, पृ० ३६।

९५ ई०पूर्व ६५ ई०तक वाराणसी में रहकर अपने पिता के पूर्वी प्रदेशों पर शासन करता था।[१]

कुषाणों द्वारा मथुरा विजय और भारत के पूर्वी क्षेत्र से सम्मिलित होने का वर्णन तिब्बती और चीनी वृत्तान्त करते हैं। तिब्बती स्रोतों से ज्ञात होता है कि 'कनिष्क' नामक किसी नृपति ने भारत पर चढ़ाई की और सोकेत (साकेत अथवा अयोध्या) को नष्ट किया। कुमारलात कृत कल्पनामण्डटीका के चीनी अनुवाद, जो कि कनिष्क के काल में हुआ था,[२] से पता चलता है कि कुषाणवंश में देवपुत्र कनिष्क नामक कोई बहादुर नृपति हुआ था, उसने पूर्वी भारत को जीता। विजेता पूर्वी प्रदेशों को जीतता हुआ जब राजधानी को लौट रहा था तो रास्ते में उसे स्तूपों का वृन्द मिला जिसको भ्रमवश उसने बौद्धों का समझ लिया था। बाद में उसे पता लगा कि वह बौद्धों का नहीं निर्ग्रन्थों का स्तूप था। उन स्तूपों में कोई अवशेष नहीं था।[३] यह वृत्तान्त इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें यूइचियों द्वारा पूर्वी भारत के विजय का वर्णन है। ये विजयोपरान्त यूइची मथुरा होकर ही वापस लौटे होंगे। इसकी पुष्टि कंकालीटीला से प्राप्त अभिलेखों से होती है।[४] मथुरा से प्राप्त ११२ अभिलेखों की सूची में केवल ८८ जैन, ११ बौद्ध और १३ ऐसे लेख हैं जिनका पता नहीं चल सका है कि वे किस धर्म के हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रायः सभी विद्वान एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि क्षहरात शकों की एक जाति विशेष के नाम का द्योतक है। किन्तु इसका समाधान वे नहीं कर सके हैं कि वह क्षहरात क्यों कहलाए? उनकी मूल भूमि कहाँ थी? प्रोफेसर रायचौधरी ने इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की थी। उनके मतानुसार 'क्षहरात उत्तर की प्रसिद्ध शक जाति 'करताई' से मिलते जुलते हैं।[1] प्रस्तुत लेखक इस प्रश्न पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करना चाहता है।

यदि शक अभिलेखों पर दृष्टिपात किया जाय, विशेषकर तक्षशिला के पतिक के ताम्रपत्र लेख पर, तो ज्ञात होगा कि 'छहर' नाम की वहाँ पर कोई नगरी थी जिसका क्षत्रप कुसुलक शासक था।[2] छहर पहाड़ी का शब्द है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे उसी नाम के किसी शहर से आये होंगे और अपनी मूलभूमि की स्मृति में उसी नाम की एक नगरी भी बसायी। शकों का इतिहास इस बात का साक्षी है। भारत में शक राजवंशों के इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे अपनी मूलभूमि से किसी न किसी रूप में संबंध स्थापित किए हुए थे। उदाहरण के लिये मथुरा के शक क्षत्रप अपनी मूलभूमि को श्रद्धांजलि अर्पित करते थे।[3] यह बात सुराष्ट्र और उज्जयिनी के महाक्षत्रपों के साथ भी थी जो अपने को 'कार्दमक' कहते थे।[4] कार्दम फारस में एक नदी है। इस प्रकार वे यह बतलाते थे कि वह कर्दम-घाटी के रहने वाले थे। सभी विदेशी जातियाँ अपनी मूलभूमि की स्मृति अपने मानस-पटल पर बनाए रखती हैं। वे शताब्दियों उसको नहीं भूलतीं। भारतीय पारसी अपनी मूल भूमि की स्मृति लगभग आठ शताब्दियों तक बनाए रहीं। प्राचीन इज़राइलियन और

१ पो० हि० ए० इ०, पृ० ४८४।

२ छहर [च]चुक्षस क्षत्रप लियको कुसुलको।

३ एपि० इं० ६। १४१।

४ देखिये वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि का कन्हेरी अभिलेख।

फीनेशियन भी अपनी मूल-भूमि की यादगार अब तक बनाए हुए हैं, यद्यपि वे उस स्थान को जहां वे वस्तुत रहते थे भूल गये हैं।[१]

इसके अतिरिक्त हमारे पास एक अन्य प्रमाण भी भी है जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि 'खहर' तक्षशिला की मूल-भूमि थी जिसकी स्मृति को बनाये रखने के लिये ही उन्होंने तक्षशिला में इस नगरी को बसाया। भारतीय पूर्वी द्वीप समूहों की ओर जब बढ़ रहे थे जावा और बाली-द्वीप-समूह में मथुरा नामक नगरी का उल्लेख मिलता है। मथुरा दक्षिण भारत में एक नगर है अतएव वहाँ से (भारतीय) बसे वह उनके मूल भूमि के ही नाम से पुकारा जाने लगा। इसीलिए बाली-द्वीप-समूह में हम 'मथुरा' नामक नगरी का उल्लेख पाते हैं।

प्रारंभ में ये शक जहां बसे (सिंध-पंजाब का क्षेत्र) वह विदेशी आक्रमकों के मार्ग में पड़ता था जो शताब्दियों तक विदेशियों द्वारा रौंदा जाता रहा। इसलिए आश्चर्य नहीं कि इन शकों को भी और सुरक्षित स्थान की तलाश में उस स्थान को छोड़ना पड़ा हो। संभवतः इसी भाग-दौड़ में वे महाराष्ट्र पहुंचे और अपने को 'खहरात' अर्थात् 'खहर' के निवासी बतलाया। जिस प्रकार मथुरा के रहने वाले माथुर और श्रावस्ती के रहने वाले श्रीवास्तव कहलाए।

इस प्रकार यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि महाराष्ट्र के 'खहरात' मूलतः मध्यएशिया के निवासी थे जिन्हें बर्बर जातियों के सतत आक्रमणों के भय से अपनी मूल-भूमि को छोड़ना पड़ा होगा। उनकी पहली शाखा भारत में गैबर दर्रे से आयी[२] और सिंध पंजाब के क्षेत्र में आकर बस गयी। इस क्षेत्र में यवनों की संख्या अधिक थी। इसके अतिरिक्त यह विदेशी आक्रमणकारियों के मार्ग में भी पड़ता था। अतएव पार्थवों का जब आक्रमण हुआ उनको यह भूमि छोड़नी पड़ी होगी और संभवतः सौराष्ट्र में, जहाँ शक बसे थे, उनको

१ दि वैदिक एज, पृ २९६।

२ मूर्ती, स्कीथियन पीरियड आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १६७।

भारत मिली होगी और तभी उन्होंने 'क्षहरात' नाम धारण किया होगा। यवनों से अपने को भिन्न बतलाने के लिये ही संभवतः उन्होंने ऐसा किया। यदि वह ऐसा न करते तो हो सकता था कि सौराष्ट्र के यवन उनको महाराष्ट्र में प्रवेश करने के लिये मार्ग न देते; मार्ग बनाने के लिए हो सकता था उनको उनसे लड़ना पड़ता। लेकिन स्वजाति के लोग शासन में कम ही लड़ते हैं। बल्कि ऐसी दशाओं में तो वे सुविधा बनाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है। सिकन्दर जब भारत पर चढ़ाई करने को चला रास्ते में उसकी मुठभेड़ नीसा के लोगों से हुई। किन्तु नीसा के लोगों ने सिकन्दर के प्रति तत्काल आत्मसमर्पण कर दिया और उसकी सहायता के लिये १०० घुड़सवारों की एक सेना भी भेंट की। वे अपने को डियोनीसस् का वंशज कहते थे। इसके प्रमाण में उन्होंने अपनी भूमि पर 'आइवी' लता दिखाई और नगर-वर्ती पर्वत का नाम ग्रीक 'मेरोस' की भाँति 'मेरु' बतलाया। इससे सिकन्दर के गर्व को तुष्टि मिली और उसने अपनी सेना वहां विश्राम और कुछ दिनों तक उन दूर के भाइयों के साथ पानोत्सव आदि मनाने की अनुमति दी।[1] यह स्वाभाविक ही था कि सौराष्ट्र के तक्षशिला के शकों से नहीं लड़े।

इस प्रकार यह कहना असमुचित न होगा कि ये क्षहरात मूलतः मध्यएशिया के ही निवासी थे जो यू-चियों के भय से अपनी मूल भूमि से भाग कर तक्षशिला में आ बसे थे और बाद में पार्थवों के आक्रमण के भय से भाग कर महाराष्ट्र चले गये थे। मुद्राशास्त्रविद् रैप्सन ने भी कहा है—"भूमक के सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि की स्थिति ब्राह्मी लिपि की तरह ही है। नहपान के ताँबे के सिक्कों पर इसको हम नहीं पाते यद्यपि उसके चाँदी के सिक्कों पर इसका लिखा गया है किन्तु उनको वह मान्यता नहीं मिली थी जो भूमक के सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि को प्राप्त थी। खरोष्ठी लिपि का इस तरह विलुप्त

१ डा० रमाशंकर त्रिपाठी, भारतवर्ष का इतिहास, पृ० ६१।

होना यह बतलाता है कि यह वस्तुतः उत्तर भारत की लिपि थी जिसका पश्चिमी भारत में प्रयोग नहीं होता था। इसलिए इस लिपि को पश्चिमी भारत में वह स्थान नहीं मिल सका जो उसको उत्तर भारत में प्राप्त था।"[१]

"इस प्रकार सभी ज्ञात प्रमाणों—सिक्कों के किस्म, धातु, शैली, आदि-से यह प्रमाणित होता है कि क्षहरात कुल के क्षत्रप उत्तर भारत के किसी पहलव अथवा शक-पह्लव कुल के अधीन शासक थे।"[२]

शहर की अवस्थिति

अब प्रश्न 'शहर' की अवस्थिति के बारे में उठता है। इस प्रश्न का उत्तर मध्य-एशिया में यू-चियों का संक्रमण एवं प्रसरण देता है। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि हूण राजा चि-यू ने यू-चियों को बुरी तरह परास्त किया था कि काशगरिया के पूर्वी उत्तर पूर्वी भाग में रहते थे। इस भाग के अधिकतर निवासी यायावरता का त्यागकर सभ्य जीवन व्यतीत करने लगे थे और शहरी हो गये थे तथा ग्रीकों की ही भाँति छोटे छोटे नगर राज्यों में रहते थे। चीनी वृत्तान्तों में इस प्रकार के २६ नगर राज्यों का वर्णन मिलता है।[३]

राजा के मारे जाने से यू-ची अपनी भूमि पर टिक न सके। वे पश्चिम की ओर भागे और दो दलों में विभक्त हो गये। एक दल तीसांग में जाकर बस गया। किन्तु दूसरा दल बढ़ता ही गया और सीरदरिया के कांठे में 'सक' लोगों से जा टकराया। सेक अथवा 'शक' उनके सामने टिक न सके। वे भागे। उनको एक शाखा की-पिन और सिन्धु-पंजाब क्षेत्र में जाकर बसी।

इन 'सेक' अथवा शक लोगों के संबंध में लिखते हुए स्टिना कहता है कि उनके पूर्व के लोग उनको 'अरयाह' कहते थे और

१ ज० रा० ए० सो० १९०८ पृ० १०२१।

२ वही।

३ मैकगवर्न, अर्ली एम्पायर्स आफ सेन्ट्रल एशिया, पृ० १११।

उनका जीवन व्यापार पह्लवों से बड़ा मिलता जुलता था। कनिंघम भी इसका समर्थन करता है। उसके अनुसार मायेस भी इसी सिथियन कुल की शाखा थे।[1]

हखमनी सम्राट दारा के लेख से भी विदित होता है कि ये शक उसके साम्राज्यान्तर्गत ईरानी अथवा पह्लवी-शब्द और पह्लवी का ईरानी भाषा से काफी निकट-संबंध था। ईरानी साम्राज्य के अंदर 'सहर' नामक नगरों की शृंखला भी मिलती है। संभवतः आमूदरिया और सीरदरिया के कांठे में भी 'सहर' नाम का कोई स्थान रहा हो जिसके निवासी ये शक थे।

(आ) भूमक : महाराष्ट्र के शक-कुल में केवल दो व्यक्तियों का नाम अभिलेखों में मिलता है—नहपान और उसका जामाता उषवदात किन्तु १९०४ ई० में प्रोफेसर रैप्सन ने इस कुल के इनसे भी पूर्व के एक राजा का पता लगाया जिसका नाम भूमक था[2]। इसका ज्ञान केवल, सिक्कों से हो पाया है। विंसेंट स्मिथ ने इसको गुजरात का सेनापति बतलाया है[3]।

डा० स्तेन कोनो[4] ने यह सुझाया है कि भूमक और य्सामोतिक (चष्टन का पिता) दोनों एक ही व्यक्ति थे। कोनो ने 'य्सम' का अर्थ भूमि से और 'भूमक' को इसका संस्कृत रूप बतलाया है। यदि यह सत्य है तो कहना पड़ेगा कि य्सामोतिक अपने नाम के संस्कृत रूप को सिक्कों पर ढलवाता था। किन्तु प्रो० रैप्सन ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि 'भूमक के सिक्कों के प्रकारों को देखने से पता चलता है कि उसने नहपान से पहले शासन किया, उनमें कोई संबंध

---

१ कनिंघम, क्वायंस आफ दि इण्डो-सिथियन शक-कुषाण, पृ० २२१
२ रैप्सन, कैटलाग, पृ० १०८।
३ अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २२०।
४ का० इं० इं० २। ७०।

था इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है[1]। यदि इस तथ्य की गहराई में उतरें तो भूमक और ग्सामोतिक इन व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट मालूम हो जायेगा। भूमक के सिक्कों से यह स्पष्ट है कि वह क्षहरात था परंतु चष्टन क्षहरात नहीं था। दोनों भिन्न-भिन्न वंश के थे। इस प्रकार क्षहरात वंश में नहपान से भी पूर्व एक व्यक्ति हुआ था भूमक जिसका ज्ञान केवल सिक्कों से हो सका है।

(इ) नहपान : भूमक के बाद नहपान का नाम क्षहरात कुल की वंशक्रमपत्रिका में मिलता है। नहपान को कई नामों से अभिहित किया गया है यथा नम्बनान, नहवन, नरवाह,, नरवाहन तथा नहवान आदि। नहपान उसका ईरानी नाम है। नह = जन और पान = रक्षक अथवा पाल। अर्थात जन-पालक या जन रक्षक। 'रक्षक' के रूप में डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने[2] तथा 'पाल' के अर्थ में डा० डी० आर० भंडारकर[3] ने इसका ग्रहण किया है। इस प्रकार नहपान के संबंध में हमारे पास जानने के तीन साधन उपलब्ध हैं—साहित्य अभिलेख तथा सिक्के।

जैन अनुश्रुति तथा पुराणों से ज्ञात होता है कि नहपान ने चष्टन के पूर्व तथा गर्दभिल्ल के बाद करीब ४० वर्ष तक शासन किया। पार्जीटर नरवान को उत्तर-कालीन शुंग काल में रखता है।[4]

यह बड़ा प्रतापी शासक था यद्यपि इसे आन्ध्र-सातवाहनों के हाथों पराजित होना पड़ा तथापि यह इस युग का सबसे शक्तिमान राजा था। कुछ विद्वानों ने उसके 'शक' होने में संदेह किया है। उसकी पुत्री दक्षमित्रा उषवदात (ऋषभदत्त) नामक एक शक सामंत को ब्याही थी। उषवदात शक था यह स्पष्ट है।[5]

---

१ रैप्सन कैटलाग पृ० १०८।
२ डा० चट्टोपाध्याय दि शकाज इन इंडिया पृ० ३३।
३ प्रो० इ० हि० कां० १९४० पृ० ३४६।
४ डायनेस्टीज आफ कलि एज, पृ० ४६।
५ एपि० इं० ८। १४ (ख)। ८१।

पुत्री और जामाता दोनों के नाम हिन्दू हैं जिससे प्रमाणित होता है कि शक लोग भारतीय संस्कृति को अपनाने लगे थे। उनके हिन्दुओं में विवाह संबंध भी स्थापित होने लगे थे[१]।

नासिक के पाण्डु लेण तथा पूना जिले के जुन्नार तथा कार्ले के उषवदात के अभिलेखों से ज्ञात पड़ता है कि नहपान महाराष्ट्र के बड़े भूभाग का स्वामी था। महाराष्ट्र के ये भाग आन्ध्र-सातवाहनों के अधीन थे। शातकर्णि राजाओं के लेख इन भागों में उत्कीर्ण मिले हैं। इससे प्रमाणित होता है कि नहपान ने भूभाग आन्ध्र-सातवाहनों ही से छीने थे। इस काल में मालवों के आक्रमण हो रहे थे और उनको रोकने के अनेक प्रयत्न उत्तमभद्र कर रहे थे। नहपान ने उत्तमभद्रों के प्रयत्न में सहायता करने के लिए अपने जामाता उषवदात को भेजा। इस युद्ध में उषवदात की विजय हुई और उसने अपने श्वसुर और महाक्षत्रप नहपान का आधिपत्य आधुनिक अजमेर के निकट तक फैला दिया[१]। अजमेर के पास पुष्कर (पुष्कर) तीर्थ में उसने अनेक दान किये।[३]

नहपान के शासन काल की तिथियाँ उसके लेखों में ४१ वें साल से ४६ वें साल तक उपलब्ध मिलती हैं, परन्तु उसके संवत् का उल्लेख न होने के कारण उनका निश्चय करना थोड़ा कठिन है। कतिपय विद्वान् लेखकों[४] में इन तिथियों को विक्रम संवत् के अनुसार अंकित माना है। उस दशा में ये ६६ ईसवी से १०४ ईसवी तक पड़ती। कनिंघम एवं राखाल दास बनर्जी विद्वान इस मत का समर्थन करते हैं। किन्तु रैप्सन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उपर्युक्त तिथि विक्रम संवत् का नहीं अपितु शक संवत् का है। विद्वान लेखक के विचार

---

१ [illegible], अध्याय, सामाजिक जीवन।

२ एपि० इं० ८ । ९५ । ७८ ।

३ वही।

४ [illegible] पृ० २१।

से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं।

नासिक और कार्ले के अभिलेख उसके साम्राज्यान्तर्गत निम्न लिखित प्रदेशों का बयान करते हैं—दक्षिणी गुजरात, उत्तरी कोंकण—भरुकच्छ से सोपारा तक और नासिक एवं पूना के क्षेत्र।[1] इन प्रदेशों का शासन भार अमात्य ऋषभदत्त और आयाम्य अयम पर था।

नासिक का लेख जिस पर किसी संवत् का ४१ अंकित है नहपान को सिर्फ 'क्षत्रप' कहा गया है। जबकि जुन्नार के लेख में, जिस पर किसी संवत् का ४६ अंकित है उसको 'महाक्षत्रपस्वामि' अभिहित किया गया है। अयम का यह जुन्नार लेख नहपान के अब तक प्राप्त लेखों में अंतिम समझा जाता है। इससे विदित होता है कि उसने अपने शासन के अंतिम भाग में महाक्षत्रप की उपाधि धारण की थी। अब प्रश्न उठता है कि महाक्षत्रप से पहले जब वह क्षत्रप था तो किसका क्षत्रप था। इसका समाधान नहीं हो सका है। डा॰ सुधाकर चट्टोपाध्याय ने यह सिद्ध किया है कि नहपान ने स्वयं उपाधियों ही धारण कर लिया था।[3]

नासिक के लेख[4] और उसके निकट के जोगलथेम्बी स्थान से प्राप्त सिक्कों के अनुशीलन से विदित होता है कि नहपान की शक्ति को सातवाहनकुलीय प्रतापी सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णि ने कुचल दिया था।

(ई) उषवदात : उषवदात नहपान का जामाता था। उसके पिता का नाम दीनीक था और पत्नी का दक्षमित्रा। इसने भी सम्भवतः ने यह

---

१ तिथि के संबंध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए डा॰ चट्टोपाध्याय कृत 'दि शकाज इन इण्डिया', पृ॰ ४१-४८।

२. रैप्सन, कैटलाग, पृ॰ ५७।

३ डा॰ चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ॰ १६।

४ एपि॰ इं॰ ८।६०।

अनुमान लगाया है कि दक्षमित्रा नहपान की भारतीय पत्नी से उत्पन्न पुत्री रही होगी।[१] इनको एक पुत्र भी था, मित्रदेवणक। वह भी माता-पिता की भाँति दानी था। इसने भी स्तंभ बनवाया था।[२] उषवदात का परिवार बड़ा दानी था। अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है।

(छ) अयम : अयम की स्थिति का ज्ञान हमें जुन्नार लेख से होता है। वह नहपान का आमात्य था। वह वत्स गोत्र का था। उसने भी दानादि कार्य किये थे।

(२) उज्जयिनी और सुराष्ट्र के महाक्षत्रप

(अ) चष्टन : शकों की पाँचवीं शाखा उज्जयिनी और सुराष्ट्र में थी। चष्टन इस वंश का संस्थापक था। लेखों में इसको 'ष्सामोतिक पुत्र' कहा गया है। 'ष्समो' का संस्कृत रूप भूमि होता है। इस भ्रम के आधार पर लेवी और कोनी प्रमुख विद्वानों ने ष्सामोतिक को भूमक से मिलाया था और चष्टन को इस तरह नहपान का संबंधी बतलाने का प्रयत्न किया था। किन्तु नामों की एकता व्यक्ति की एकता को सिद्ध नहीं करता। रैप्सन ने इसकी निराधारिता को सिद्ध कर दिया।

चष्टन के काल का निर्णय करना भी सरल नहीं है। डुब्रेओ के अनुसार ७८ ईसवी में शक संवत् का चलाने वाला चष्टन ही था। यह मत अनेक कारणों से विद्वानों को मान्य न हो सका, परन्तु इतना इनका भी मत है कि चष्टन के अन्धउ स्थान से प्राप्त अभिलेख में जो तिथि ५२ दी गई है वह शक संवत का ही है। इस मत के अनुसार, जिसको कि प्रायः सभी विद्वान मानते हैं, यह तिथि (७८ + ५२ =) १३० ईसवी हुई। चष्टन ने शक परंपरा के अनुसार पर[...] तो 'क्षत्रप' के विरुद से फिर 'महाक्षत्रप' की हैसियत से शासन किया [...] कुछ लोग उसके क्षत्रप विरुद के कारण कम से कम आरंभ में उस[...]

१ सत्याश्रय, दि० शकाज इन इंडिया, पृ० १५।

[...] ई० ७१५६।

गत किया था। दक्षिणापथ के स्वामी को उसने दो-दो बार युद्ध में पराजित किया था, किन्तु निकट-संबंधी होने के कारण उसने उसे मुक्त करके यश प्राप्त किया[1]। इसके अतिरिक्त यौधेयों को भी युद्ध में उसने करारी हार दी। दक्षिणी पंजाब और निकटवर्ती प्रदेशों में यौधेयों का एक प्रबल गणराज्य था जो अपनी स्वतंत्रतानुरागिता के द्वारा सदा दूसरे शासकों को तंग किया करते थे। रुद्रदामन ने उनको विजित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और अपने साम्राज्य विस्तार के मार्ग से अपने एक कण्टक को निर्मूल किया। गणतंत्र महत्त्वाकांक्षी राजाओं के मार्ग में सदा रोड़े बनते हैं। इस प्रकार रास्ते के कण्टकों को निर्मूल कर उसने एक विशाल राज्य की स्थापना की। उसके गिरनार लेख पर दृष्टिपात करने से उसके राज्यान्तर्गत निम्नलिखित प्रदेशों का पता चलता है—

१ पूर्व अपर आकर-अवन्ति—(अथवा पूर्वी और पश्चिमी मालवा) पूर्वी मालवा की राजधानी विदिशा तथा पश्चिमी की राजधानी उज्जयिनी थी। रुद्रदामन ने अपनी राजधानी को उज्जयिनी में ही स्थापित की थी।

२ अनूप—पश्चिमी मालवा में नर्मदा नदी के किनारे निमाड़ मध्य प्रदेश जिलान्तर्गत 'महेश्वर'।

३ नीवृत—अभी तक इसका पता नहीं चल सका है।

४ आनर्त—उत्तरी काठियावाड़ के भूभाग को ही आनर्त कहा गया है। इसकी प्राचीन राजधानी आनन्दपुर थी। महाभारत और पुराणों में आनर्त शब्द का उल्लेख मिलता है।

५ सुराष्ट्र—दक्षिणी काठियावाड़। जूनागढ़ आदि प्रदेश इसी के अंतर्गत आते हैं।

६ श्वभ्र—वर्तमान साबरमती।

---

१ दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य संबंधा-विदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा।

७ मरु-कच्छ—यदि मरु-कच्छ को सही माना जाय तब तो इस प्रदेश में राजस्थान के रेगिस्तानी प्रदेश और वर्तमान कच्छ आ जाते हैं। किन्तु यदि 'मरु' को 'भरु' का गलती से मरु बन जाना समझा जाय तब यह 'भरुकच्छ' एक शब्द हो जाता है, जो वर्तमान भड़ौंच की ओर संकेत करता है। परन्तु चूँकि लेख में यह शब्द स्पष्ट नहीं हो सका है, इस संबंध में ज्यादा नहीं कहा जा सकता।

८. सिंधु—अपर सिंधु-क्षेत्र के प्रदेश जहाँ से शक भारत के अन्य प्रदेशों में प्रवेश करते हैं।

९. सौवीर—इस प्रदेश की प्राचीन राजधानी मुल्तान थी।

१० कुकुर—राजस्थान का एक भूभाग।

११ अपरान्त—उत्तरी कोंकण।

१२. निषाद—पश्चिमी विन्ध्य और अरावली के प्रदेश। इस प्रकार उसके राज्य में वे सभी प्रदेश सम्मिलित थे, जिन पर क्षहरातों का अधिकार था। नासिक और पूना जिले के प्रदेशों पर रुद्रदामन का अधिकार नहीं था।[1] इनमें से कुछ प्रदेशों पर गौतमीपुत्र शातकर्णि का अधिकार था। किन्तु रुद्रदामन ने उन पर अपना जो स्वामित्व स्थापित किया उससे यह स्पष्ट है कि उसने गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी को पराजित कर उससे कुछ प्रदेश छीन लिए थे।[2]

रुद्रदामन केवल एक महान् विजेता ही नहीं, अपितु एक सफल एवं योग्य शासक भी था। अपने सुशासन द्वारा उसने अपने राज्य से रोगों, लुटेरों, वन्य पशुओं और अन्य कण्टकों का उन्मूलन कर दिया था। वह स्वेच्छाचारी शासक नहीं था, वरन् धर्मशास्त्रों के अनुसार कार्य करने वाला एक प्रजावत्सल राजा था। अभिलेख के कथनानुसार 'सर्व-वर्णैरभिगम्यरक्षणार्थं पतित्वे वृतेन', सब जातियों ने मिल

१ दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० १८५।

२ पो० हि० एं० इं० पृ० ५०७।

कर उसे अपना रक्षक या स्वामी मनोनीत किया था। प्रजा के हित के वह बहुत ध्यान रखता था। प्रजा के कल्याण की बात वह हमेशा सोचा करता था और इस हेतु कोई भी कार्य-करने के लिए वह हमेशा तत्पर रहता था। जूनागढ़ की प्रशस्ति से उसके लोकानुरंजन की भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। उसने सुराष्ट्र प्रांत में स्थित सुदर्शन झील का बांध फिर से बनवाया। इस झील से यहाँ के निवासियों को बहुत लाभ होता था; बांध टूट जाने के कारण उनको कठिनाई का अनुभव हुआ जिसके निराकरणार्थ रुद्रदामन ने सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण कराया। उसके अमात्यों से इसके निर्माण की बात को लेकर, आर्थिक कारणों के आधार पर, विरोध हो गया था। अतएव उसे स्वयं अपने कोष से धन व्यय कर, गिरनार और उसके आसपास की भूमि को जल देने वाली सुदर्शन झील की मरम्मत करवानी पड़ी, जो मूलतः चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में बनवाई गयी था और वर्षा के कारण उसके समय में टूट गयी थी। वह अपने अमात्यों के सत्परामर्शों का सदैव स्वागत करता था और उनके निश्चया-नुसार काम करता था। लोककल्याण के काम का संपादन करते समय भी रुद्रदामन अपने मंत्रियों से परामर्श करता था और अपने कोष से धन व्यय कर उस काम को संपादित करता था।

एक कुशल विजेता और शासक के अतिरिक्त वह साहित्य-प्रेमी भी था। वह कई विद्याओं का ज्ञाता था। व्याकरण (शब्द) राजनीति (अर्थ) संगीत (गंधर्व) तर्क (न्याय) और इसी तरह की अन्य विद्याओं में वह पारंगत था।[1] यह उसके व्याकरण ज्ञान का ही कारण है कि उसका लेख विशुद्ध संस्कृत में ही लिखा गया जब कि अन्य शक राजाओं के लेख विशुद्ध संस्कृत में नहीं मिलते। शुंगों के बाद उसी का राजकीय लेख शुद्ध संस्कृत में मिलता है। इन काव्यक गद्य

१ शब्दार्थ-गान्धर्व-न्यायाद्यानां विद्यानां....

राजाओं के काल में उज्जयिनी विद्या का केन्द्र हो गया था।[१]

रुद्रदामन वैदिक धर्मानुयायी था तथा धर्मशास्त्रानुसार कार्य करता था। वह संग्राम के अतिरिक्त और कहीं मानव-वध नहीं करता था।[२] उसके शासन में सहायता के लिए दो प्रकार के मंत्रियों की व्यवस्था थी—मतिसचिव और कर्मसचिव।

रुद्रदामन के बाद उज्जयिनी के शकों की शक्ति दिनों दिन क्षीण होती गयी। यद्यपि रुद्रदामन के बाद दो सौ वर्षों तक इस वंश का शासन बना रहा तथापि इतने लम्बे काल में भी इस वंश के शासकों ने कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। वे नाम मात्र के शासक थे। उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गयी थी। संभवतः इसीलिए उनके शासन काल की घटनाओं का वर्णन करना किसी ने आवश्यक नहीं समझा।[३]

(१) दामघसद: रुद्रदामन के बाद उसके उत्तराधिकारियों का ज्ञान मात्र सिक्कों पर आधारित है। रुद्रदामन के पश्चात् उसका पुत्र दामघसद उत्तराधिकारी हुआ यह दामघसद के सिक्के प्रमाणित करते हैं जिन पर निम्नलिखित लेख खुदा है—

रुद्रदाम्नः पुत्रस्य क्षत्रपस्य दाम (घस)[४] उसके 'क्षत्रप' प्रकार के सिक्के इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वह अपने पिता के राज्यकाल में उनका सहायक था। उसका 'महाक्षत्रप' प्रकार उसकी स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं। उन पर उसका चित्र भी अंकित है जिससे विदित होता है कि वह काफी बड़ा था और थोड़े ही काल तक उसने शासन किया होगा।[५]

---

१ दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० १८६।

२ यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः।

३. डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६४।

४ रैप्सन, कैटलाग, पृ० १२४।

५. डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६४।

दामघसद के मरते ही क्षत्रप-कुल पर आपत्ति आयी। भाई रुद्रसिंह प्रथम के गुन्डा लेख में और भतीजे रुद्रसेन प्रथम के गढ़ा लेख में उसके तथा उसके पुत्रों जीवदामन तथा सत्यदामन के नामों का उल्लेख नहीं मिलता। उनके वंशानुक्रमणिका में इनको कोई स्थान नहीं दिया गया। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए रैप्सन ने कहा कि यह संभवतः इसीलिए क्योंकि राज्य के उत्तराधिकार के रूप में दो व्यक्ति आये दामघसद का पुत्र जीवदामन और भाई रुद्रसिंह प्रथम। दोनों में राज्य के लिए झगड़ा हुआ और विजय दूसरों को प्राप्त हुई। विजेता द्वारा अपनी वंशक्रमणिका में उनके नाम न रखने का यही कारण होगा।[1]

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम

सिक्कों को देखने से पता चलता है कि दामघसद के बाद उसका पुत्र जीवदामन उत्तराधिकारी हुआ। उसके महाक्षत्रप नाम के सिक्के मिले हैं, जिन पर तिथि भी अंकित है। उसने कुछ ही समय तक राज्य किया होगा कि उसका चाचा रुद्रसिंह प्रथम विद्रोह कर उठा और शासन को अपने हाथ में ले लगभग सात वर्षों तक महाक्षत्रप बना रहा। बाद में १९७ ईसवी से १९९ ईसवी तक जीवदामन ही महाक्षत्रप रहा। यदि इन शासकों के सिक्कों का अवलोकन किया जाय तो उनके निम्नलिखित तिथियुक्त सिक्के मिलेंगे—

(क) जीवदामन—महाक्षत्रप सिक्के १७८-९ ईसवी और १९७-९ ई०

(ख) रुद्रसिंह प्रथम—

(अ) क्षत्रप सिक्के ईसवी १८० १, १८८-९१ ई०

(ब) महाक्षत्रप ईसवी १८१-८८, १९१ ६ ई०

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम के महाक्षत्रप उपाधि काल में दो-

---

१ रैप्सन, कैटलाग, पृ० १२१।

दो बार परिवर्तन सिद्ध करता है कि उनके शासन पर कोई न कोई संकट आया होगा। १८१ ईसवी के गुण्डा लेख से पता चलता है कि आभीर सेनापति रुद्रभूति का रुद्रसिंह प्रथम था।[1] इससे ज्ञात होता है कि रुद्रभूति एक शक्तिशाली सेनापति था उसी तरह जिस तरह पुष्यमित्र शुंग था; जिसने राजा की उपाधि धारण न कर सिर्फ सेनापति की ही उपाधि धारण किया और महाक्षत्रपों के लिए संकट का कारण बन गया। संभवतः इसीलिए जीवदामन को पद छोड़कर भागना पड़ा होगा। उसके शासन के बीच में जो व्यवधान पड़ता है उसका यही कारण रहा होगा। किन्तु रुद्रसिंह प्रथम उसकी अधीनता स्वीकार कर उसका मातहत सामन्त बना रहा।[2] कालान्तर में जब रुद्रसिंह काफी शक्तिशाली हो गया होगा अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी होगी और 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण कर ली होगी। परन्तु इस समय तक आभीर और सातवाहन प्रबल हो गए थे। उन्हें जब भी अवसर मिलता था क्षत्रप राज्य को हस्तगत कर लेते थे।[3]

रुद्रसेन प्रथम

जीवदामन के पश्चात् (१९९ ई०) रुद्रसेन प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। वह रुद्रसिंह प्रथम का पुत्र था। रुद्रसेन प्रथम के शासन पर मूलवासार का ईसवी संवत २०० (?) का लेख[4] और २०५ ईसवी का जसदन स्तंभ लेख[5] प्रकाश डालता है। उसकी एक बहन भी थी जिसका पता वैशाली में प्राप्त एक मुहर से चलता है।[6]

---

१ एपि० इ० १६।२३३।

२ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ५५।

३ ,, ,, ,,

४ ,, ,, पृ० ५६।

५. एपि० इ० १६।२३८

६ राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसिंहस्य दुहितृ राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसेनस्य भगिन्या महादेव्या (?)

दामघसद के मरते ही क्षत्रप-कुल पर आपत्ति आयी। भाई रुद्रसिंह प्रथम के गुण्डा लेख में और भतीजे रुद्रसेन प्रथम के गढ़ा लेख में उसके तथा उसके पुत्रों जीवदामन तथा सत्यदामन के नामों का उल्लेख नहीं मिलता। उनके वंशानुक्रमणिका में इनको कोई स्थान नहीं दिया गया। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए रैप्सन ने कहा कि यह संभवतः इसीलिए क्योंकि राज्य के उत्तराधिकार के रूप में दो व्यक्ति आये दामघसद का पुत्र जीवदामन और भाई रुद्रसिंह प्रथम। दोनों में राज्य के लिए झगड़ा हुआ और विजय दूसरे को प्राप्त हुई। विजेता द्वारा अपनी वंशानुक्रमणिका में उनके नाम न रखने का यही कारण होगा।[1]

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम

सिक्कों को देखने से पता चलता है कि दामघसद के बाद उसका पुत्र जीवदामन उत्तराधिकारी हुआ। उसके महाक्षत्रप नाम के सिक्के मिले हैं, जिन पर तिथि भी अंकित है। उसने कुछ ही समय तक राज्य किया होगा कि उसका चाचा रुद्रसिंह प्रथम विद्रोह कर उठा और शासन को अपने हाथ में ले लगभग बारह वर्षों तक महाक्षत्रप बना रहा। बाद में १९७ ईस्वी से १९९ ईस्वी तक जीवदामन ही महाक्षत्रप रहा। यदि इन नरेशों के सिक्कों का अवलोकन किया जाय तो उनके निम्नलिखित तिथियुक्त सिक्के मिलेंगे—

(क) जीवदामन—महाक्षत्रप सिक्के १७८-९ ईस्वी और १९७-९ ई०

(ख) रुद्रसिंह प्रथम—

(अ) क्षत्रप सिक्के ईस्वी १८०-१, १८८-९० ई

(ब) महाक्षत्रप ईस्वी १८१-८८, १९१-५ ई

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम के महाक्षत्रप उपाधि काल में दो-

१ रैप्सन, कैटलाग, पृ० १२१।

सी बार परिवर्तन सिद्ध करता है कि उनके शासन पर कोई न कोई संकट आया होगा। १८१ ईस्वी के गुण्डा लेख से पता चलता है कि आभीर सेनापति रुद्रभूति का रुद्रसिंह क्षत्रप था।[1] इससे ज्ञात होता है कि रुद्रभूति एक शक्तिशाली सेनापति था उसी तरह जिस तरह पुष्यमित्र शुंग था जिसने राजा की उपाधि धारण न कर सिर्फ सेनापति की ही उपाधि धारण किया और महाक्षत्रपों के लिए संकट का कारण बन गया। संभवतः इसीलिए जयदामन को राज्य छोड़कर भागना पड़ा होगा। उसके शासन के बीच में जो व्यवधान पड़ता है उसका यही कारण रहा होगा। किन्तु रुद्रसिंह प्रथम उसकी अधीनता स्वीकार कर उसके मातहत क्षत्रप बना रहा।[2] कालान्तर में जब रुद्रसिंह काफी शक्तिशाली हो गया होगा अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी होगी और 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण कर ली होगी। परन्तु इस समय तक आभीर और सातवाहन प्रबल हो गए थे। उन्हें जब भी अवसर मिलता था क्षत्रप राज्य को हस्तगत कर लेते थे।[3]

रुद्रसेन प्रथम

जयदामन के पश्चात् (१९९ ई०) रुद्रसेन प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। वह रुद्रसिंह प्रथम का पुत्र था। रुद्रसेन प्रथम के शासन पर मूलवासार का ईस्वी संवत २०० (?) का लेख[4] और २०५ ईस्वी का जसदन स्तंभ लेख[5] प्रकाश डालता है। उसकी एक बहन भी थी जिसका पता वैशाली में प्राप्त एक मुहर से चलता है।[6]

---

१ एपि० इं० १६।२३३।

२ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इण्डिया, पृ० ६५।

३ „ „ „

४ „ „ पृ० ६६।

५ एपि इं० १६।२३८

६. राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसिंहस्य दुहितु राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसेनस्य भगिन्या महादेव्या (?)

दामजदश्री के मरते ही क्षत्रप-कुल पर आपत्ति आयी। भाई रुद्रसिंह प्रथम के गुण्डा लेख में और भतीजे रुद्रसेन प्रथम के मूलवासर लेख में उसके तथा उसके पुत्रों जीवदामन तथा सत्यदामन के नामों का उल्लेख नहीं मिलता। उनके वंशानुक्रमणिका में इनको कोई स्थान नहीं दिया गया। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए रैप्सन ने कहा कि यह संभवतः इसीलिए क्योंकि राज्य के उत्तराधिकार के रूप में दो व्यक्ति आये दामजदश्री का पुत्र जीवदामन और भाई रुद्रसिंह प्रथम। दोनों में राज्य के लिए झगड़ा हुआ और विजय दूसरे को प्राप्त हुई। विजेता द्वारा अपने वंशक्रमणिका में उनके नाम न रखने का यही कारण होगा।[1]

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम

सिक्कों को देखने से पता चलता है कि दामजदश्री के बाद उसका पुत्र जीवदामन उत्तराधिकारी हुआ। उसके महाक्षत्रप नाम के सिक्के मिले हैं, जिन पर तिथि भी अंकित है। उसने कुछ ही समय तक राज्य किया होगा कि उसका चाचा रुद्रसिंह प्रथम विद्रोह कर उठा और शासन को अपने हाथ में ले लगभग बाद वर्षों तक महाक्षत्रप बना रहा। बाद में १९७ ईसवी से १९९ ईसवी तक जीवदामन ही महाक्षत्रप रहा। यदि इन शासकों के सिक्कों का अवलोकन किया जाय तो उनके निम्नलिखित तिथियुक्त सिक्के मिलेंगे—

(क) जीवदामन—महाक्षत्रप सिक्के १७८ ईसवी और १९७-९ ई॰

(ख) रुद्रसिंह प्रथम—

(अ) क्षत्रप सिक्के ईसवी १८०-१, १८८-९१ ई॰

(ब) महाक्षत्रप ईसवी १८१-८८, १९१-६ ई

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम के महाक्षत्रप उपाधि काल में दो-

---

1. रैप्सन, कैटलाग, पृ १२३।

रुद्रसिंह द्वितीय ईसवी ३०५ में क्षत्रप हुआ और ३१७ तक वह अपने पद पर बना रहा। उसके बाद यशोदामन द्वितीय क्षत्रप हुआ। इसके शासन का आरंभ ईसवी ३१७ से ३३२ ई० तक आंका गया है। श्रीधरवर्मन के कानखेरा प्रस्तर लेख को हम इसी काल में रखेंगे। यह स्वतंत्र राजा था और नन्द का पुत्र था।[1] मजूमदार ने इस लेख की तिथि को २४१ ३१९ ईसवी पढ़ा है। किन्तु कुछ विद्वानों ने २०१ २७९ भी पढ़ा है। मजूमदार की पढ़ाई को ही विद्वानों ने मान्यता दी है। ३३२ ईसवी से ३४८ ईसवी में जब शक-राज्य संकट काल से गुजर रहा था संभवतः इसी काल में श्रीधरवर्मन जो शकों का मालवा क्षेत्र में कोई अधिकारी था, स्वतंत्र हो गया हो गया।[2] ईसवी सन ३३२ के बाद सिक्कों के द्वारा यदि फिर किसी शक नृपति को हम जान पाते हैं तो वह है ३४८ ईसवी का रुद्रसेन तृतीय। इस प्रकार १६ वर्षों का बीच में अंतर पड़ता है। इस बीच के अंतर को न सिक्के और न अभिलेख ही भर सके हैं।[3] संभवतः इसी काल में समुद्रगुप्त दिग्विजय को निकला।

रुद्रसेन तृतीय के काल से महाक्षत्रपों को हम पुनः पाते हैं। रुद्रसेन तृतीय अपने को 'महाक्षत्रप' नाम से अभिहित करता है। उसी के सिक्कों से उसके पिता महाक्षत्रप स्वामि रुद्रदामन द्वितीय का पता चलता है। रुद्रसेन तृतीय के पश्चात् महाक्षत्रप स्वामि सिंहसेन उसका उत्तराधिकारी हुआ। यह रुद्रसेन तृतीय की बहन का पुत्र था। इससे पता चलता है कि (संभवतः) रुद्रसेन तृतीय अपनी युवावस्था में ही मर गया बिना किसी उत्तराधिकारी को जन्म दिए। इसीलिए उसकी बहन का पुत्र महाक्षत्रप बनाया गया। उसके सिक्कों से उसकी तिथि

---

१ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ७१।
२ तत्रैव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६०।
३ तत्रैव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६१।

सिक्कों को देखने से पता चलता है कि इसके पश्चात् उनके भाई क्रमशः संघदामन (ई० २२२ ११) और दामसेन (ई० २२३-३६) उसके उत्तराधिकारी हुए। डा० अल्तेकर के कथनानुसार संघदामन मालवों के साथ युद्ध में मारा गया जो संभवतः अपनी स्वतंत्रता चाहते थे।[१]

दामसेन २३६ ईस्वी तक महाक्षत्रप के रूप में शासन करता रहा। उसके बाद उसका द्वितीय पुत्र यशोदामन २३८ ईस्वी में महाक्षत्रप हुआ। इस प्रकार दो वर्ष का व्यवधान पड़ता है इस बीच के काल में रैप्सन आभीर ईश्वरदत्त के शासन की स्थापित करते हैं।[२] ईश्वर बहुत अधिक दिनों तक शासन नहीं कर पाया था। २३८ ईस्वी में दामसेन का द्वितीय पुत्र यशोदामन महाक्षत्रप हुआ। उसके बाद उसके भाई विजयसेन (ई० २३९-५) और दामजदश्री तृतीय (ई० २५१—५) उत्तराधिकारी हुए। दामजदश्री के बाद उसके दो पुत्र विश्वसिंह (ई० २७८-८१) और भर्तृदामन (ई० २८२-९५) उत्तराधिकारी हुए।

उत्तरकालीन शक-नृपति

ईस्वी २९५ से ३४० ईस्वी तक हम किसी भी महाक्षत्रप को पश्चिमी भारत के शक राजकुल में नहीं पाते।[३] उत्तरकालीन शकों में स्वामि रुद्रसिंह द्वितीय का नाम पहले आता है।[४] कोई इसका चष्टन वंशी करता है[५] तो कोई शाही परिवार की दूसरी छोटी शाखा का दूसरी छोटी शाखा की ओर संकेत करता है।[६]

१ द न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल, ५१।
२ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ३९।
३ तत्रैव
४ रैप्सन, कैटलाग पृ० १४१। ,, पृ० ८२।
५. बूलर, ज० रा० ए० सो० १८९०, पृ० ६६।
६ एपि० इं० १६।२०० .

रुद्रसिंह द्वितीय ईसवी १०५ में क्षत्रप हुआ और ११७ तक वह अपने पद पर बना रहा। उसके बाद यशोदामन द्वितीय क्षत्रप हुआ। इसके शासन का आरंभ ईसवी ११७ से १३२ ई० तक आंका गया है। श्रीधरवमन के कानकोरा प्रस्तर लेख को हम इसी काल में रखेंगे। वह स्वतंत्र राजा था और नन्द का पुत्र था।[१] मजूमदार ने इस लेख की तिथि का २४१ ३१६ ईसवी पढ़ा है। किन्तु कुछ विद्वानों ने २०१ २७६ भी पढ़ा है। मजूमदार की पढ़ाई को ही विद्वानों ने मान्यता दी है। ३१२ ईसवी से ३४० ईसवी में जब शक-राज्य संकट काल से गुजर रहा था संभवतः इसी काल में श्रीधरवमन जो शकों का मालवा क्षेत्र में कोई अधिकारी था, स्वतंत्र हो गया हो गया।[२] ईसवी सन ३३२ के बाद सिक्कों के द्वारा यदि फिर किसी शक नृपति को हम जान पाते हैं तो वह है ३४८ ईसवी का रुद्रसेन तृतीय। इस प्रकार १६ वर्ष का बीच में अंतर पड़ता है। इस बीच के अंतर को न सिक्के और न अभिलेख ही भर सके हैं।[३] संभवतः इसी काल में समुद्रगुप्त दिग्विजय को निकला।

रुद्रसेन तृतीय के काल से महाक्षत्रपों को हम पुनः पाते हैं। रुद्रसेन तृतीय अपने को 'महाक्षत्रप' नाम से अभिहित करता है। उसी के सिक्कों से उसके पिता महाक्षत्रप स्वामि रुद्रदामन द्वितीय का पता चलता है। रुद्रसेन तृतीय के पश्चात् महाक्षत्रप स्वामि सिंहसेन उसका उत्तराधिकारी हुआ। यह रुद्रसेन तृतीय की बहन का पुत्र था। इससे पता चलता है कि (संभवतः) रुद्रसेन तृतीय अपनी युवावस्था में ही मर गया बिना किसी उत्तराधिकारी को जन्म दिए। इसीलिए उसकी बहन का पुत्र महाक्षत्रप बनाया गया। उसके सिक्कों से उसकी तिथि

---

१ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इंडिया, पृ ७१।
२ तत्रैव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६०।
३ तत्रैव, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६१।

१८२-८४ निर्धारित होती है।

सिंहसेन के बाद उसका पुत्र रुद्रसेन चतुर्थ महाक्षत्रप हुआ। उसके सिक्कों पर निम्नलिखित लेख अंकित है—

राज्ञ महाक्षत्रपस स्वामी-सिंहसेनपुत्रस
राज्ञ महाक्षत्रपस स्वामी रुद्रसेनस ॥

इसके बाद सत्यसिंह हुआ। यह सिंहसेन का भाई हो भी सकता है।[1] महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह तृतीय के काल के बाद शक क्षत्रप अथवा महाक्षत्रपों का काल समाप्त हो जाता है। इसके सिक्कों पर ३१० = ३८८ ईस्वी तिथि अंकित है। यह काल गुप्त राजाओं के दिग्विजय की थी। संभव है चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ युद्ध में यह मारा गया हो। इसके सिक्कों पर निम्नलिखित लेख मिलता है—

राज्ञ महाक्षत्रपस स्वामी-सत्यसिंह पुत्रस
राज्ञ महाक्षत्रपस स्वामी-रुद्रसेनस ॥

शक महाक्षत्रपों का पतन

किसी राजकुल के पतन में मुख्य कारण अयोग्य और निर्बल शासक होते हैं। विदेशी आक्रमण भी उसमें सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के भी राजकुल शिकार होते हैं।

शक जिस रास्ते से आए थे, तक्षशिला का प्रदेश में वह विदेशियों के आक्रमण के मार्ग में पड़ता था। शकों के बाद पह्लव आये। गोंडोफर्नीज उनका शक्तिशाली नेता था। सिंध और तक्षशिला के शक-कुल का उसने अंत किया। इसका पता गुदुव्हर के एक प्रकार के सिक्के से चलता है जिसमें एक ओर गुदुव्हर का नाम और दूसरी ओर इंद्रवर्मा का नाम है।[2] अस्पवर्मा पहले अय द्वितीय का करदायी सामंत था। इस प्रकार गुदुव्हर के आक्रमण से सिंध और तक्षशिला का शक राजकुल ध्वस्त हुआ।

---

१ रैप्सन, कैटलाग, पृ० १४६।
२ ए० म्यू० कै० ?११२०।

मथुरा के शक भी अधिक दिनों तक अपनी स्वतंत्रता कायम न रख सके। उनको कनिष्क महान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।[1] महाराष्ट्र के क्षहरात भी अपनी स्वतंत्रता कायम न रख सके। यद्यपि नहपान ने सातवाहनों को पराजित किया और उनके भूभाग पर शासन किया तथापि वह अधिक दिनों तक ऐसा न कर सका। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने अपने वंश के लुप्त गौरव को पुनरस्थापित किया और विदेशी आक्रमणकारी शकों को अपनी भूमि से निष्कासित कर दिया। शक-यवन-पल्हव-क्षहरातों का नाश करके गौतमीपुत्र ने अपने वंश की मान मर्यादा को बढ़ाया, इसका विवरण नासिक के गुहाभिलेख में मिलता है।[2] इस प्रकार सातवाहन शक्ति के कारण क्षहरातों का अंत हुआ।

इसी प्रकार उज्जयिनी और काठियावाड़ के महाक्षत्रपों का अंत हुआ। महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के पश्चात् महाक्षत्रप कुल में फिर ऐसा कोई शासक पनप न सका जो अपनी सार्वभौम सत्ता को स्थापित रख सकता। निर्बल हाथों ने शक्ति को खो दिया। परिणामस्वरूप गणराज्य एवं छोटे-छोटे राज्य जो अपनी स्वतंत्रता को पाना चाहते थे विद्रोह कर उठे और कालान्तर में शक्तिशाली भी हो गए। मालव गण शायद यवनों के दबाव के कारण पंजाब से राजस्थान चला गया था और वहाँ एकबार शकों से हार कर फिर उन्हें उखाड़ने में उसने सातवाहनों से सहयोग किया।[3] अग्रिम, शिवि, औदुम्बर आदि गणों के सिक्के इसी युग के पाये जाते हैं। सबसे उज्ज्वल इतिहास यौधेयों का है। उनके पुराने सिक्के एक किस्म के हैं। बाद के सिक्कों पर 'द्वि' और 'त्रि' के चिह्न हैं जिनसे ज्ञान पड़ता है कि इस बार

---

१ एपि० इं० ८।१०२।

२ खतियदपमानमदनस सकयवनपल्हवनिसूदनस......खखरातवंस निरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपतिथापनकरस......।

३ भा० इ० प० पृ० ५८।

उखड़कर दोबारा वह गण फिर स्थापित हुआ।[1] दूसरी शताब्दी ईसवी के मध्य में सुराष्ट्र का शक महाक्षत्रप रुद्रदामन अभिमान से लिखता है कि किसी के आगे न झुकने वाले यौधेयों को उसने उखाड़ डाला परन्तु रुद्रदामन के बाद यौधेयों को हम फिर स्थापित हुआ पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल में गण शक्तिशाली हो गए थे और उनको जब भी अवसर मिलता लड़ाई छेड़ देते थे।

संघदामन जो कि रुद्रसेन प्रथम (ईसवी २०० २१) का भाई था डा० अल्तेकर के अनुसार इसी तरह की एक लड़ाई में मालवों द्वारा मारा गया होगा[2] इस काल तक देश में बहुत सी शक्तियाँ उठ खड़ी हुई थीं—मैकूटक वाकाटक भारशिव-नाग आदि। इन सबके सामूहिक आक्रमणों-प्रत्याक्रमणों से विदेशी शकों की शक्ति में ह्रास होता गया। उनको मध्यदेश, महाराष्ट्र छोड़ना पड़ा। डा० अल्तेकर के शब्दों में वाकाटकों ने जो कि २४५ ईसवी के लगभग हुए शक-क्षत्रपों से मालवा को छीन लिया होगा। अपने समर्थन में वे पश्चिमी क्षत्रपों के तांबे के सिक्कों का सहारा लेते हैं, जो कि मालवा में ३४० ईसवी तक चलता रहा, और कहते हैं कि वाकाटकों के शक्ति में आते ही मालवा से उनके सिक्कों का प्रचलन खतम हो गया[3] किन्तु डा० चट्टोपाध्याय ने उस काल में भी शकों का आधिपत्य मालवा पर माना है।[4] ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि वाकाटकों के कारण शकों को मालवा से हटना पड़ा होगा समीचीन नहीं जान पड़ता।

जिस समय भारत में ये शक्तियाँ शकों की शक्ति को नष्ट करने में लगी हुई थीं ईरान में उसी समय (२२६ ई०) पार्थव के स्थान

१ ज० बि० उ० रि० सो० १९।११-१२।
२ न्यू हि० इं० पी० ६।४२।
३ न्यू हि० इं० पी० ६।४४।
४ दि शकाज इन इंडिया, पृ० ९१।

पर 'सासानी' राज्य की स्थापना हुई। इस राज्य का संस्थापक अर्दशीर था। इसने विद्रोह करके ईरानी साम्राज्य के कई प्रान्त ले लिए। सम्राट अर्तबान पंचम ने उसे दबाना चाहा किन्तु सफलता न मिली। वह युद्ध में मारा गया। अर्दशीर ने सारे ईरान को जीतकर शाहन-शाहे ईरान उपाधि को धारण किया। तबारी ने लिखा भी है कि अरसकी साम्राज्य के दक्खिनी और पश्चिमी प्रान्तों को जीतने के बाद अर्दशीर ने पूरब की ओर बढ़कर सिजिस्तान को जीता, फिर गुरगान, अबरशहर, मर्व और बलख जीतते हुए ख्वारिज्म पर चढ़ाई की और खुरासन की अंतिम सीमा तक को अधीन किया। उसने यह भी लिखा है कि उसके इन प्रदेशों को जीत लेने पर कुषानशाह तथा और तूरान मकरान के राजाओं ने दूत भेजकर उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

अर्दशीर समूचे सिजिस्तान को जीत न सका था। उसके अधूरे काम को वरह्रान द्वितीय ने पूरा किया और सारा सकस्तान जीतकर अपने बेटे को सकानशाह नियत किया।[1] यही भारत की वह अनुल्लिखित सासानी चढ़ाई है जिसकी विंसेंट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ में कल्पना की थी।[2] इस आधार पर हर्जफ़ील्ड यह परिणाम निकालते हैं कि "२८४ ईसवी में वरह्रान द्वितीय के विजयों के बाद सासानी साम्राज्य में पूरब के ये देश थे—खास खोरासन—जिसमें शायद ख्वारिज्म और मुर्ग भी थे, सकस्तान विस्तृततम अर्थ में, मकरान और तूरान सहित सिंधु नद का मध्य कांठा और मुहाना, कच्छ, काठियावाड़, मालवा और इन देशों के पीछे का पहाड़ी प्रदेश (=राजस्थान)।[3]

२९३ ईसवी में वरह्रान द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका बेटा

१ मे० आर्के० सर्वे ई० नं० ३८।
२ हर्ज़फ़ील्ड, पाइकुली, १९२४, पृ० ४२।
३ वही पृ० ४१।

उखड़कर दोबारा यह गण फिर स्थापित हुआ।[1] दूसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य में सुराष्ट्र का शक महाक्षत्रप रुद्रदामन अभिलेख से मिलता है कि किसी के आगे न झुकने वाले यौधेयों को उसने उखाड़ डाला परन्तु रुद्रदामन के बाद यौधेयों को हम फिर स्थापित हुआ पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल में गण शक्तिशाली हो गए थे और उनको जब भी अवसर मिलता लड़ाई छेड़ देते थे।

संघदामन जो कि रुद्रसेन प्रथम (ईस्वी २०० २२) का भाई था डा० अल्तेकर के अनुसार इसी तरह की एक लड़ाई में मालवों द्वारा मारा गया होगा।[2] इस काल तक देश में बहुत सी शक्तियाँ उठ खड़ी हुई थीं—त्रैकूटक वाकाटक भारशिव-नाग आदि। इन सबके सामूहिक आक्रमणों-प्रत्याक्रमणों से विदेशी शकों की शक्ति में ह्रास होता गया। उनको मध्यदेश महाराष्ट्र छोड़ना पड़ा। डा० अल्तेकर के शब्दों में वाकाटकों ने जो कि २५५ ईस्वी के लगभग हुए शक-क्षत्रपों से मालवा को छीन लिया होगा। अपने समर्थन में वे पश्चिमी क्षत्रपों के तांबे के सिक्कों का सहारा लेते हैं, जो कि मालवा में २४० ईस्वी तक चलता रहा, और कहते हैं कि वाकाटकों के शक्ति में आते ही मालवा से उनके सिक्कों का प्रचलन खतम हो गया।[3] किन्तु डा० चट्टोपाध्याय ने उस काल में भी शकों का आधिपत्य मालवा पर माना है।[4] ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि वाकाटकों के कारण शकों को मालवा से हटना पड़ा होगा समीचीन नहीं जान पड़ता।

जिस समय भारत में ये शक्तियाँ शकों की शक्ति को नष्ट करने में लगी हुई थीं ईरान में उसी समय (२२६ ई०) पार्थव के स्थान

---

१ ज० बि० उ० रि० सो० १९।५१-५२।

२ न्यू हि० इं० पी० ६।५२।

३ न्यू हि० इं० पी० ६।५४।

४ दि शकाज इन इंडिया, पृ० ६९।

पर 'सासानी' राज्य की स्थापना हुई। इस राज्य का संस्थापक अर्द-शीर था। इसने विद्रोह करके ईरानी साम्राज्य के कई प्रान्त ले लिए। सम्राट अर्तबान पंचम ने उसे दबाना चाहा किन्तु सफलता न मिली। वह युद्ध में मारा गया। अर्दशीर ने सारे ईरान को जीतकर शाहन-शाहे ईरान उपाधि को धारण किया। तबारी ने लिखा भी है कि पारसकी साम्राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी प्रान्तों को जीतने के बाद अर्दशीर ने पूरब की ओर बढ़कर सिजिस्तान को जीता, फिर गुरगान, अबरशहर, मर्व और बलख जीतते हुए ख्वारिज्म पर चढ़ाई की और खुरासान की अंतिम सीमा तक को अधीन किया। उसने यह भी लिखा है कि उसके इन प्रदेशों को जीत लेने पर कुशानशाह तथा और तूरान मकरान के राजाओं ने दूत भेजकर उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

अर्दशीर समूचे सिजिस्तान को जीत न सका था। उसके अधूरे काम को बहराम द्वितीय ने पूरा किया और सारा सकस्तान जीतकर अपने बेटे को सकानशाह नियत किया।[1] यही भारत की वह अनुल्लिखित सासानी चढ़ाई है जिसकी विंसेंट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ में कल्पना की थी।[2] इस आधार पर हर्ज़फील्ड यह परिणाम निकालते हैं कि "२८४ ईस्वी में बहराम द्वितीय के विजयों के बाद सासानी साम्राज्य में पूरब के ये देश थे—सारा खोरासान—जिसमें शायद ख्वारिज्म और गुर्ग भी थे सकस्तान विस्तृततम अर्थ में, मकरान और तूरान सहित सिंधु नद का मध्य काँठा और मुहाना, कच्छ, काठियावाड़, मालवा और इन देशों के पीछे का पहाड़ी प्रदेश (=राजस्थान)।[3]

२९३ ईस्वी में बहराम द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका बेटा

---

१ मे० आर्के० सर्वे इं० सं० ३८।

२ हर्ज़फील्ड, पाइकुली, १९२४, पृ० ४१।

३ वही पृ० ४२।

बरहान तृतीय जिसे ९ वर्ष पूर्व 'शकानशाह' नियत किया गया था, 'शाहनशाह' बना। वह कुछ मास ही शासन कर पाया था कि उसके दादा का छोटा भाई नरसे उसके मुकाबले को खड़ा हुआ। इस गृहयुद्ध में बरहान तृतीय मारा गया। इसी नरसे ने पाइकुली का मंदिर बनवाया और उसमें अपनी प्रशस्ति चट्टान पर खुदवायी जिसमें इस युद्ध का वृत्तांत है।

विद्वानों में सासानियों द्वारा पश्चिमी भारत की विजय विवाद का विषय बना हुआ है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने पाइकुली अभिलेख में अवन्ति के राजा की चर्चा का उल्लेख करते हुए कहा है—"पश्चिमी भारत पर सासानी आधिपत्य विवादास्पद है।"[१] डा० अल्तेकर भी प्रो० हर्ज़फ़ील्ड की इस स्थापना का खण्डन करते हैं, इस आधार पर कि उन प्रान्तों में सासानी सिक्के नहीं मिलते।[२]

किसी राज्य के पतन के कारणों में बाहरी आक्रमण भी एक कारण होता है। शकों के पतन के सम्बन्ध में बाहरी आक्रमण की सम्भावना सर्वप्रथम प्रो० रैप्सन ने व्यक्त की थी। १९०८ ईसवी में ब्रिटिश म्यूज़ियम के आन्ध्र और क्षत्रप सिक्कों की सूची प्रकाशित करते हुए रैप्सन ने लिखा था—पहले महाक्षत्रप का और फिर महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों का न रहना विपत्ति काल को सूचित करता है। संभावना यह है कि पश्चिमी क्षत्रपों के इलाकों पर कोई बाहरी आक्रमण हुआ था, किन्तु इस बाहरी चढ़ाई का ठीक स्वरूप फिलहाल बिलकुल संदिग्ध है, और जब तक हम इस युग के पड़ोसी राष्ट्रों का इतिहास न जान लेंगे तब तक वह संदिग्ध होगा।[३] संभवतः इसीलिए डा०

१ दि हिस्ट्री एंड कल्चर आफ दि इंडियन पीपुल, दि क्लासिकल एज, पृ० ४१।
२ वाकाटक-गुप्त-युग, पृ० ५८-५९।
३ रैप्सन, कैटलाग, भूमिका, पृ० १४२।

डा० रायचौधरी ने महाक्षत्रपी और क्षत्रपी का अंत सासानी हस्तक्षेप के कारण हुआ होगा बतलाया था। सासानी का इसलिए क्योंकि वह एक शक्तिशाली राज्य था।

इस प्रकार आंतरिक एवं बाह्य शक्तियों के दबाव के कारण ३३२ ईसवी में पश्चिमी क्षत्रप राज्य का अंत हो गया था, पर लगभग ३४८ ईसवी में फिर एक महाक्षत्रप उठ खड़ा हुआ था, जिसके बेटे स्वामी रुद्रसेन तृतीय ने ३४८ ईसवी से सिक्के चलाने शुरू किये।

क्षत्रप सिक्कों की जो ढेरियाँ मिली हैं उनसे सिद्ध होता है कि रुद्रसेन के चार वर्ष शासन करने के बाद ३५१ ईसवी में इसके राज्य में एकाएक क्रांति हुई जिससे दस-बारह वर्ष तक इसका सिक्का चलना बन्द रहा, पर उसके बाद फिर चलने लगा।[1] जूनागढ़ के पास उपरकोट में क्षत्रप सिक्कों की एक ढेरी गत शताब्दी के अंत में मिली थी। उस ढेरी में रुद्रसेन तृतीय के ९ सिक्के थे पर वे सब २७० से २७३ शक वर्ष (३४८—३५१) के ही थे। उसके बाद का कोई नहीं। उस ढेरी की पहले-पहल परीक्षा करने वाले पादरी स्कॉट ने १८९९ ईसवी में इस बारे में लिखा था कि "इन सिक्कों में से बहुत से, विशेष कर पिछले वर्षों वाले, बिल्कुल ताजे टकसाल से निकले हुए और अनघिसे हैं। इन कारणों से यह परिणाम निकालना उचित होगा कि यह ढेरी रुद्रसेन के राज्य के पहले अंश के अंत में गाड़ी गयी थी और संभवतः इस धन को गाड़ने का कारण यह था कि उस समय राज्य क्रांति हुई थी जिससे जान-माल सुरक्षित न थे।"

स्कॉट के यह लिखने के १२ वर्ष बाद सन १९११ में बाँसवाड़ा के सर्वाणिया गाँव से २३९३ क्षत्रप सिक्कों की ढेरी मिली। यह भी ठीक २७३ शकाब्द में गाड़ी गयी होगी क्योंकि उसके बाद का कोई सिक्का उसमें नहीं था। और उसमें भी रुद्रसेन के ४४ सिक्के वैसी ही हालत में पाये गये। इससे यह परिणाम निकला कि ३५१ ईसवी में

१ भा० इ० भी० पृ० ११७।

वरहान तृतीय जिसे ६ वर्ष पूर्व 'शकानशाह' नियत किया गया था, 'शाहनशाह' बना। वह कुछ माह ही राज्य कर पाया था कि उसके दादा का छोटा भाई नरसे उसके मुकाबले को खड़ा हुआ। इस गृहयुद्ध में वरहान तृतीय मारा गया। इसी नरसेः ने पाइकुली का मंदिर बनवाया और उसमें अपनी प्रशस्ति चट्टान पर खुदवायी जिसमें इस युद्ध का वृत्तांत है।

विद्वानों में सासानियों द्वारा पश्चिमी भारत की विजय विवाद का विषय बना हुआ है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने पाइकुली अभिलेख में अवंति के राजा की चर्चा का उल्लेख करते हुए कहा है—"पश्चिमी भारत पर सासानी आधिपत्य विवादास्पद है।"[१] डा० अल्तेकर भी प्रो० हर्ज़फील्ड की इस स्थापना का खंडन करते हैं, इस आधार पर कि उन प्रान्तों में सासानी सिक्के नहीं मिलते।[२]

किसी राज्य के पतन के कारण में बाहरी आक्रमण भी एक कारण होता है। शकों के पतन के संबंध में बाहरी आक्रमण की संभावना सर्वप्रथम प्रो० रैप्सन ने व्यक्त की थी। १९०८ ईसवी में ब्रिटिश म्यूजियम के आंध्र और क्षत्रप सिक्कों की सूची प्रकाशित करते हुए रैप्सन ने लिखा था—पहले महाक्षत्रप का और फिर महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों का न रहना विपत्ति-काल का सूचित करता है। संभावना यह है कि पश्चिमी क्षत्रपों के इलाकों पर कोई बाहरी आक्रमण हुआ था, किन्तु इस बाहरी चढ़ाई का ठीक स्वरूप फिलहाल बिलकुल संदिग्ध है, और जब तक हम इस युग के पड़ोसी राज्यों का इतिहास न जान लेंगे तब तक यह संदिग्ध होगा।[३] संभवतः इसीलिए डा०

---

१ दि हिस्ट्री एंड कल्चर आफ दि इंडियन पीपुल, दि क्लासिकल एज, पृ० ५२।

२ वाकाटक-गुप्त-युग, पृ० ४८-४९।

३ रैप्सन, कैटलाग, भूमिका, पृ० १४२।

डा० रायचौधरी ने महाक्षत्रपी और क्षत्रपी का अंत सासानी हस्तक्षेप के कारण हुआ होगा बतलाया था। सासानी का इसलिए क्योंकि वह एक शक्तिशाली राज्य था।

इस प्रकार आंतरिक एवं बाह्य शक्तियों के दबाव के कारण ३३२ ईसवी में पश्चिमी क्षत्रप राज्य का अंत हो गया था, पर लगभग ३४८ ईसवी में फिर एक महाक्षत्रप उठ खड़ा हुआ था, जिसके बेटे स्वामी रुद्रसेन तृतीय ने ३४८ ईसवी से सिक्के चलाने शुरू किये।

क्षत्रप सिक्कों की जो ढेरियाँ मिली हैं उनसे सिद्ध होता है कि रुद्रसेन के चार वर्ष शासन करने के बाद ३५२ ईसवी में इसके राज्य में एकाएक क्रांति हुई जिससे दस-बारह वर्ष तक इसका सिक्का चलना बन्द रहा, पर उसके बाद फिर चलने लगा।[१] जूनागढ़ के पास उपरकोट में क्षत्रप सिक्कों की एक ढेरी गत शताब्दी के अंत में मिली थी। उस ढेरी में रुद्रसेन तृतीय के ६० सिक्के थे पर वे सब २७० से २७३ शकाब्द (३४८—३५१) के ही थे। उसके बाद का कोई नहीं। इस ढेरी की पहल-पहल परीक्षा करने वाले पादरी स्कॉट ने १८९९ ईसवी में इस बारे में लिखा था कि "इन सिक्कों में से बहुत से, विशेष कर पिछले वर्षों वाले, बिल्कुल ताजे टकसाल से निकले हुए और अनघिसे हैं। इन कारणों से यह परिणाम निकालना उचित होगा कि यह ढेरी रुद्रसेन के राज्य के पहले अंश के अंत में गाड़ी गयी थी और संभवतः इस धन को गाड़ने का कारण यह था कि उस समय राज्य क्रांति हुई थी जिससे जान-माल सुरक्षित न थे।"

स्कॉट के यह लिखने के १२ वर्ष बाद सन् १९११ में बाँसवाड़ा के सर्वानिया गाँव से २३९३ क्षत्रप सिक्कों की ढेरी मिली। यह भी ठीक २७३ शकाब्द में गाड़ी गयी होगी क्योंकि उसके बाद का कोई सिक्का उसमें नहीं था। और उसमें भी रुद्रसेन के ४८ सिक्के वैसी ही हालत में पाये गये। इससे यह परिणाम निकला कि ३५२ ईसवी में

१ भा० इ० रू० पृ० ११७।

रुद्रसेन के समूचे राज्य में एक साथ और एकाएक वज्राघात हुआ मानो कोई बाहरी आक्रांता बिजली की तरह गिरा हो जिससे सभी लोग अपना धन छिपाने का यत्न कर रहे थे ।[1]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्रसेन द्वारा खड़ा किया गया महाक्षत्रपवंश उसकी मृत्यु होते ही उठ खड़ा हुआ और सात साल तक जारी रहा जब तक कि समुद्रगुप्त वाकाटक साम्राज्य के विघटन में लगा रहा। वाकाटकों से छुट्टी पाते ही, आर्यावर्त के राज्यों को समाप्त करने और आटविक राज्यों को सेवक बनाने के बाद समुद्रगुप्त ने एकाएक गुजरात-काठियावाड़ पर टूटकर इस नए राज्य को मिटा दिया होगा। उसके पूर्ववर्ती साम्राज्य द्वारा जो राज्य दबा दिये गये और उस साम्राज्य के शिथिल होते ही फिर उठ खड़ा हुआ था, वह एक प्रकार का विद्रोही था जिसे दबाना नए सम्राट का कर्तव्य था ।[2]

३८२ ईसवी के बाद फिर एक नया क्षत्रप वंश उठा। सम्भवतः समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय की हार और गड़बड़ में उसे उठने का अवसर मिला। रामगुप्त के काल में किसी शक नृपति ने उस पर आक्रमण किया और ध्रुवदेवी को उससे माँगा था—ऐसा वर्णन विशाखदत्त के देवी-चंद्रगुप्तम् नाटक में मिलता है ।[3] उसके बाद उस घटना का उल्लेख बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में, महाराष्ट्र कर्णाटक के राजा अमोघवर्ष ने अपने संजान अभिलेख में, कवि राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में तथा राजा भोज ने 'देवीचंद्रगुप्तम्' के आधार पर अपने ग्रन्थ 'शृंगारप्रकाश' में किया है। यों हमारे साहित्य में पाँचवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बराबर इस घटना का उल्लेख पाया जाता है।[4] तो भी विद्वानों में इसकी ऐतिहासिकता

---

१ मा० इ० मी० पृ० ११८ ।
२ ज० ब० हि० पृ० ४।२४८-२६१ ।
३ ज० बि० उ० रि० सो० १८।१७ ।
४ मा० इ० मी० पृ० ७९ ।

पर संदेह किया जाता है क्योंकि समसामयिक अभिलेखों में इसका उल्लेख नहीं है।

आधुनिक विद्वानों में इस लाभ का श्रीगणेश श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने किया[1] पर रामगुप्त और इस घटना की ऐतिहासिकता की पहले पहल घोषणा श्री राखालदास बनर्जी ने की।[2] राखालदास के बाद डा० अल्तेकर ने इसके कुछ प्रमाणों को उपस्थित किया।[3]

अब प्रश्न उठता है देवीचंद्रगुप्तम के इस कथानक का प्रारंभ किस स्थान पर हुआ। अर्थात् चंद्रगुप्त द्वितीय शक नृपति को कथकेश में किस जगह हत्या करता है। कवि राजशेखर उस घटना को तस्मिन्नेव हिमालये—उसी हिमालय में—हुई बतलाता है। उस पद्य की ओर पहले पहल गुलेरीजी ने ध्यान दिलाया था और फिर डा० अल्तेकर ने। मजुल हसन भी स्पष्ट करता है कि यह घटना किसी पहाड़ी गढ़ में हुई।[4] श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इस घटना के घटनास्थल की खोज की है। उन्होंने लिखा है—"राखालदास के सामने वह पद्य न था तो भी उन्होंने अपनी सहज सूझ से यह पहचान लिया था कि समुद्रगुप्त के बेटे को इस प्रकार लांछित करने वाला राजा सुराष्ट्र का रुद्र शक नहीं हो सकता, काबुल का कनिष्कवंशज शाहानुशाहि होना चाहिए। डा० अल्तेकर के सामने यह पद्य था, तो भी वे शकाधिराज की तलाश में मालवा के पठार और काठियावाड़ के जंगलों में भटकते रहे 'तस्मिन्नेव हिमालये' की ओर उनका ध्यान नहीं गया।[5]

गुप्तों के प्रयत्न से शकों को इस प्रकार देश छोड़ना पड़ा और

---

1 ना० प्र० प० १९७७ पृ० २१४ १५।
2 एन्श्यंट इंपीरियल गुप्ताज।
3 ज० बि० उ० रि० सो० १४।२२३।
4 मा० इ० मी० पृ० ७६।
5 ना० प्र० प० १९९४, पृ० १९।

प्रथम स्तंभ के समुद्रगुप्त के प्रशस्ति लेख से उन्हें काबुली सीमा-प्रांत पर निर्दिष्ट किया। यह मालूम हो जाने पर कि रामगुप्त वाली घटना पश्चिमी हिमालय में हुई और चन्द्रगुप्त ने वहीं काबुल-बलख के शक राजा को हराया था, मेहरौली वाले राजा चंद्र की चंद्रगुप्त से अनन्यता प्रकट हो जाती है क्योंकि राजा चन्द्र के काबुल होते हुए बलख तक जीतने की बात कही है।[1] मेहरौली वाली लाट पहले पंजाब की एक पहाड़ी पर खड़ी थी, इससे उसे और पुष्टि मिलती है।[2] श्री जयचंद्र विद्यालंकार इसी आधार पर रामगुप्त की ऐतिहासिकता का अभिलेखीय प्रमाण भी दे देते हैं। उनके अनुसार चंद्र और चंद्रगुप्त की अनन्यता प्रकट हो जाने पर यह आक्षेप भी नहीं टिकता कि इस घटना का समसामयिक अभिलेखों में उल्लेख मिलता है।[3]

इस प्रकार शक नृपतियों की अयोग्यता निर्बलता, अनेक छोटे छोटे राज्यों की स्थापना, बाहरी आक्रमणों आदि के कारण तथा केन्द्रीयकरण की पुनः प्रवृत्ति के कारण शक अपनी सत्ता को कायम करने में असफल रहे तथा भारतीय समाज में घुल-मिलकर नष्ट हो गए।



१ एपि० इं० १४।१६७ ज० इं० हि० १६।१३।
२ प्रा० इं० भा० पृ० ७७।
३ वही।

राजनीतिक विचार और शासन-पद्धति

शक जहाँ गए वहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए। वे खानाब-दोश थे। खानाबदोशों का न कोई धर्म होता है और न दर्शन। पूर्वी ईरान में रहे—ईरानी संस्कृति से प्रभावित हुए। उसी तरह, भारत में भारतीय संस्कृति की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। भारतीय शकों पर भारतीय राजचिन्तकों (राजनीति विचारकों) का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। उस काल का सबसे योग्य और प्रभावशाली शासक रुद्रदामन राजविद्या[1] में पारंगत था—ऐसा वही हो सकता था जिसमें मंत्रियोचित गुणों की प्रधानता होती थी, मंत्रियों और उच्चाधिकारियों में श्रेणी विभाजन था, प्रजा की स्थिति को देखते हुए 'कर' का निर्धारण था, पौर और जानपद के निवासियों के कल्याण की भावना विद्यमान थी—तभी तो वह सत्यप्रतिज्ञेन, धर्मानुरागेण, यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्क भागैः अपीडयित्वा प्रणयक्रियाभिः आदि शब्दावलियों का प्रयोग करता है।[2]

(१) राज्य का स्वरूप :

राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राज्य का मुखिया राजा होता था। राज्य की दैवी-उत्पत्ति-सिद्धान्त न थी। वह इकरारनामे पर आधारित था। राजा का निर्वाचन होता था। ईसवी दूसरी शताब्दी में रुद्रदामन ने अपने शिलालेख में लिखवाया था—"मैं राजपद के लिए सब वर्णों द्वारा निर्वाचित हुआ हूँ।"[3] इस प्रकार प्रारंभिक

---

१ एपि० इं० ८।४२।

२. वही।

३ सर्व वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन।

निर्वाचित राजसंस्था सिद्धान्ततः इस काल में भी मान्य थी, किन्तु यहाँ इसका उपयोग राजनय की दृष्टि से किया गया है। शासक विदेशी था, अतः इस प्रकार की धीरता की राजनीतिक आवश्यकता थी। जनता को शान्त एवं संतुष्ट रखने के लिए इन हथकण्डों की अपेक्षा होती थी।

राजा के निर्वाचन का यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। वैदिक काल[1] में भी इसका उल्लेख मिलता है। वैदिक काल के उपरान्त भी समय-समय पर राजाओं का निर्वाचन हुआ करता था। मेगास्थनीज[2] ने लिखा है कि "स्वयंभू बुद्ध और क्रतु के उपरान्त राज्यारोहण प्रायः वंशानुक्रमिक हो गया था, परन्तु "जब किसी राजवंश में कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता था, तब भारतवासी राजा का निर्वाचन व्यक्ति की योग्यता देख कर किया करते थे।" इससे विदित होता है कि राजा के निर्वाचन का सिद्धान्त एक राष्ट्रीय सिद्धान्त था, जो बहुत अधिक प्रचलित था।

(२) प्रतिज्ञा का महत्त्व

निर्वाचन-सिद्धान्त में निर्वाचित को निर्वाचकों के समक्ष प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। एकबार यह प्रतिज्ञा कर लेने पर फिर उसे विस्मृत करना, असंभव नहीं तो, कठिन होता था। यदि हिन्दू राजा अपनी राज्याभिषेक वाली प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सकता था, तो वह असत्य प्रतिज्ञ कहा जाता था ऐसी दशा में उसे राजसिंहासन पर बने रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं रह जाता था। राज्याभिषेक के समय की प्रतिज्ञा कोरी रस्म अदायगी ही नहीं होती थी। इसका प्रमाण इसीसे मिल जाता है कि राजा लोग समय पड़ने पर यह गर्व से कहा करते थे कि वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और असत्य प्रतिज्ञ नहीं हुए। शक नृपति

---

१ अथर्ववेद ६।८७–८८ ऋग्वेद १०।१७३।

२ मैक्रिण्डल, मेगास्थनीज एण्ड एरियन, पृ० २००।

महाक्षत्रप रुद्रदामन ने अपने शिलालेख में बड़े गर्व से लिखवाया था—मैं सदा सत्यप्रतिज्ञ रहा और मैंने कभी कोई ऐसा कर नहीं लगाया जो धर्म-विरुद्ध हो[१]। प्रतिज्ञा-भंजकों को राजपद पर अभिषिक्त करने वाले प्रजा के प्रतिनिधि राज्यच्युत भी कर सकते थे। महाभारत में अत्याचारी राजा वेन की राज्यच्युति और प्राणदण्ड का यही कारण बतलाया गया है कि वह विधर्मी हो गया था। मौर्य राजा बृहद्रथ सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा इसीलिए मार डाला गया था क्योंकि वह प्रतिज्ञा-दुर्बल हो गया था।

यद्यपि निर्वाचन-सिद्धान्त आगे चलकर वंशानुक्रमिक हो गया था, फिर भी यह मूलतत्त्व विस्मृत नहीं किया गया था कि हिन्दू नृपतंत्र निर्वाचनमूलक है। सिद्धान्ततः राजा सदा एक निर्वाचित अधिकारी हुआ करता था, और वह उन्हीं शर्तों के अनुसार अपने उस अधिकार का भोग करता था जिन्हें वह राज्याभिषेक के समय शपथ करते हुए स्वीकृत करता था। राजनीतिज्ञों का यह शपथ संबंधी सिद्धान्त सदा मान्य रहता था और राजा तथा प्रजा दोनों उसके अनुसार कार्य करते थे।

राजा के हाथ में राजपद दान जिस उद्देश्य से किया जाता था उसकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—तुम्हें यह राज्य कृषि के लिए, क्षेम के लिए, संपन्नता के लिए, पोषण या वपन के लिए दिया जाता है—राजा कहता है कि वह इसका पालन करेगा। इसका पालन राजा का सर्वप्रधान कर्तव्य होता था, जो राजा अपनी राज्याभिषेक वाली ऐसी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में दुर्बलता दिखाता था, उसकी क्या गत होती थी यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। प्रतिज्ञा का तो इतना महत्त्व था कि रुद्रदामन ने अपने जूनागढ़ शिलालेख में लिखवाया था—सत्यप्रतिज्ञेन अन्यत्र...अपीडयित्वा कर-विष्टि-प्रणय

---

१ सत्यप्रतिज्ञेन अन्यत्र, अपीडयित्वा कर-विष्टि-प्रणय-क्रियाभिः

क्रियाभिः पौरजानपदैर्न—।

इस प्रतिज्ञा की मीमांसा एवं विवेचना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) राजा के हाथ में राज्य सौंपा जाता है और वह कहता है कि वह इसका पालन या उन्नति करेगा और इसका पालन राजा का सर्वप्रधान कर्तव्य होता था।

(२) जो देश उसे पालन करने के लिए दिया जाता है उसे वह स्वयं परमेश्वर से कुछ भी कम नहीं समझता जिसका अभिप्राय है कि वह बहुत ही शुद्ध हृदय से आदरपूर्वक और डरता-डरता शासन करेगा। यह संबंध उन संबंधों से बहुत भिन्न है जिनमें राजा लोग प्रजा का पालन उन्हें अपना पुत्र समझकर, प्रजापति के रूप में करते हैं अथवा यह समझकर करते हैं कि इस बात का उन्हें ईश्वर प्रदत्त अधिकार है; अथवा केवल अपनी शक्ति और वैभव के बल पर करते हैं।

(३) यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। वह धर्म से बद्ध होता है और धर्म के शासन के अधीन लाया जाता है। आगे चलकर राजनीति या दण्डनीति के बन्धनों से भी वह बद्ध किया जाता है। राज्य के आन्तरिक शासन तथा परराष्ट्रों से संबंध रखने में उसे धर्म और दण्डनीति के अनुसार ही चलना पड़ता था और उसे इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह कभी इनकी उपेक्षा नहीं करेगा।

(ख) मन्त्रिमण्डल

हिन्दू राजा अपनी ही इच्छा से शासन नहीं करता था। उसके शासन पर मन्त्रिपरिषद् का अंकुश रहता था। हिन्दू मंत्रिपरिषद् प्राचीन वैदिक काल की 'सभा' का ही विकसित रूप थी।

---

१ हिन्दू राजतंत्र २।१६।

हिन्दू राष्ट्र-संगठन की यह एक परंपरा सी हो गयी थी कि बिना मंत्रियों की परिषद् की स्वीकृति और सहयोग के राजा कोई काम नहीं कर सकता था। परिषद् के मंत्रियों की संख्या ८ से १२ तक के बीच रक्खी गयी थी। इस संबंध में धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीति संबंधी सभी ग्रन्थ एक मत हैं। कौटिल्य भी, जो एकराज शासन-प्रणाली का सबसे बड़ा समर्थक है, कहता है कि राजा को मंत्रिपरिषद् में बैठकर ही राज्य-संबंधी समस्त विषयों का सम्पादन करना चाहिए और बहुमत से जो कुछ निश्चित हो, उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए[1]।

मनु और याज्ञवल्क्य[2] इस विषय पर प्रायः एक मत हैं। मनु के अनुसार[3] राजा को अपने साथी या मंत्री अवश्य रखने चाहिए, और राज्य के साधारण तथा असाधारण कार्यों पर उन्हीं के बीच बैठकर और उन्हीं के साथ मिलकर विचार करना चाहिए। कात्यायन तो यहाँ तक निर्देश करते हैं कि राजा को अकेले बैठकर किसी मुकदमे या अभियोग आदि का भी निर्णय नहीं करना चाहिए, अमात्यों तथा सभ्यों आदि के साथ बैठकर निर्णय करना चाहिए[4]। इसका अभिप्राय यह है कि शासन-संबंधी जो कार्य बिलकुल नियमानुमोदित और धर्मसम्मत हों वह भी अनुभवी मंत्रियों की सम्मति और स्वीकृति से होनी चाहिए, जिससे उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न रह जाय।

इस अवसर पर हमें विधान-संबंधी एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न को भी ध्यान में रखना चाहिए। धर्मशास्त्रकारों[5] ने यह निर्देश कर रक्खा था कि यदि मंत्री लोग विरोध करें, तो राजा को यह अधिकार नहीं

---

१ अर्थशास्त्र १ । १५ । ११ ।
२ याज्ञवल्क्य १ । ३११ ।
३ मनु ७ । ५४ ५७ ।
४ वीरमित्रोदय पृ० १४ ।
५ महाभारत २।१०।२६।१२ ।

है कि वह किसी को वित्तदान भी कर सके। यहाँ तक कि वह भाइयों को भी दान नहीं दे सकता था। मंत्रिपरिषद् के विधान-संबंधी इन नियमों को देखते हुए हम समझ सकते हैं कि सम्राट-अशोक के आज्ञा देने पर भी मंत्रिपरिषद् और प्रधानमंत्री राधागुप्त ने बौद्ध भिक्षुओं को और अधिक वित्तदान देना क्यों और किस प्रकार अस्वीकृत कर दिया था।[1] इससे सूचित होता है कि मंत्री लोग समय-समय पर सम्राट की आज्ञा का भी उल्लंघन करते थे। इस प्रकार जब रुद्रदामन ने सुदर्शन ताल की मरम्मत की आज्ञा दी थी, तब उसके मंत्रियों ने भी उसका विरोध किया था। सुदर्शन ताल की मरम्मत के संबंध में

---

१ दिव्यावदान, पृ० ४३० से आगे।

कुक्कुटाराम को अशोक जो दान देना चाहता था, उसे पूरा करने के लिए उत्सुक होकर उसने कहा था—"राधागुप्त, नाहं द्रव्य विनाशं न राज्य विनाशं न चाश्रयविप्रयोगं शोचामि।' उस समय कुणाल का पुत्र सम्प्रदि युवराज के पद पर अधिष्ठित था। अमात्यों ने उससे कहा था—'कुमार राजा अशोक का अवस्थान तो थोड़े ही समय तक रहेगा, पर वे अपना धन कुक्कुटाराम में भेज रहे हैं। राजा का बल कोश ही है। उन्हें इससे निवारण करना चाहिए।' इस पर कुमार ने भाण्डागारिक को प्रतिषेध कर दिया। तब उद्विग्न राजा ने अमात्यों और पौरों को बुलाया और उनसे पूछा—"इस समय देश का स्वामी कौन है?" प्रधान अमात्य ने उठकर और अशोक के पास पहुँचकर हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा—"देव ही इस समय पृथ्वी के स्वामी हैं।" इस पर राजा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से मंत्रियों से कहा—"किसलिए दाक्षिण्याचार के विचार से मिथ्या बात क्यों कह रहे हो? हम तो राज्य अधिकार से भ्रष्ट हो गए हैं।"

त्यागशूर और मौर्यकुल का अशोक, जो जम्बूद्वीप का सर्वेश्वर था, अब आधे आमलक का अधीश्वर रह गया। मंत्रियों के द्वारा अधिकार अपहृत हो जाने पर अब यह राजा आधा आमलक ही दान देता है।

मंत्री लोग राजा के प्रस्ताव के विरोधी थे। उन लोगों ने उसके लिए मत देना अस्वीकृत कर दिया था, जिससे राजा को सारा व्यय अपने कोष से देना पड़ा था।[१]

(४) पौर-जानपद

तत्कालीन राजनीति में पौर-जानपदों का स्पष्ट महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। रुद्रदामन ने सुदर्शन नामक जिस ताल का जीर्णोद्धार किया था, उसे वह पौर जानपद के प्रति अपना अनुग्रह प्रदान बतलाता है।[२]

पौर-जानपद का अर्थ हम 'राज-शासन-पद्धति' में बतावेंगे। पौर जानपद का राष्ट्र-संगठन संबंधी सभी बातों में उल्लेख मिलता है। अधिक महत्त्व के विषयों का विचार और निर्णय जानपद और पौर दोनों संस्थाओं के सम्मिलित अधिवेशन में हुआ करता था। उस समय ये दोनों संस्थाएं मिलजुल कर इस प्रकार बिलकुल एक हो जाती थीं कि दोनों एक ही समझी जाती थीं।[३]

अभिषेकों के समय इनकी उपस्थिति अपेक्षित थी। पौर जानपद के वृद्ध लोग जनता के प्रतिनिधिस्वरूप अभिषेक के समय उपस्थित होते थे। यदि आवश्यक हुआ तो पौर जानपद उत्तराधिकार में बाधक भी हो सकते थे। सिंहल के महावंश के अनुसार भारत में पौर को इस बात का अधिकार प्राप्त था कि यदि राजा कोई धर्मविरुद्ध काम करे, तो वह उसे राजच्युत करके निर्वासित कर दे, और तब लोगों का ध्यान रखने वाले पौर अपनी सभा में निश्चय करके राज वंश से भिन्न किसी वंश के व्यक्ति को चुन कर राजा बनावें।[४]

---

१ रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ लेख, नं० १६—१७।
२ एपि ई० ८।४२ शिलालेख पंक्ति नं० १६।
३ हिन्दू राजतंत्र ५ २६३।
४ महावंश ४।३६।

अभिषेक के अतिरिक्त पौर-जानपद मंत्रियों की नियुक्ति में भी सहायक होते थे। महाभारत के अनुसार राजा उसी मंत्री को मंत्र या राज्य की नीति और शासन या दण्ड का अधिकार प्रदान करे, अर्थात् उसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री बनाये जिसने धर्म के अनुसार पौर-जानपद का विश्वास संपादित किया हो।[1] इस प्रकार मंत्रियों की स्थिति एक बहुत बड़ी सीमा तक पौर-जानपद की प्रसन्नता और विश्वास पर ही निर्भर करती था। संभवतः इसीलिए रुद्रदामन के अमात्य और मतिसचिव उसके विरुद्ध हो गए थे इसीलिए राजा को पौर जानपद के प्रति अनुग्रह करना पड़ा था।[2]

'कर' या राजस्व के संबंध में पौर-जानपद का प्रायः उल्लेख मिलता है। 'कर' साधारण नियम या कानून के अनुसार निश्चित होते थे, परन्तु प्रायः ऐसी आवश्यकताएँ पड़ती थीं और अवसर आते थे, जिनमें राजा को प्रजा से विशिष्ट 'कर' लेने के लिए कहना पड़ता था। ये 'कर' या तो प्रणय और प्रेमोपहार के रूप में होते थे या अब रस्ता वसूल किए जाते थे अथवा इसी प्रकार के अन्य रूपों में हुआ करते थे।[3] इससे यह प्रकट होता है कि इस प्रकार के 'करों' का प्रस्ताव सर्वप्रथम पौर जानपदों के समक्ष उपस्थित किया जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार[4] राजा को पौर जानपद से ऐसे करों की भिक्षा माँगनी पड़ती थी, जो राजा ऐसा न कर सीधे जनता पर 'कर' लगा देता था, उसका सत्यानाश ही हुआ करता था। पौर और जानपद धन और सेना एकत्र कर उस राजा के प्रति विद्रोह कर उठते थे।

---

१ महाभारत ८३।४५ ४६।
२. महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ लेख, पंक्ति १६-१८।
३ ई० ऐ० १९१८ पृ० ९८।
४ अर्थशास्त्र ५।२।९०।
अनेन प्रदेशेन राजा पौर जानपदान् भिक्षेत्।

पौर-जानपद प्रायः अनुग्रह की याचना करते थे और अनुग्रह प्राप्त करते थे। कौटिल्य के अनुसार शत्रु के देश के पौर जानपदों (नेताओं) को अपने गुप्त दूतों के द्वारा यह परामर्श दिलाना चाहिए कि आप लोग अपने राजा राजा से 'अनुग्रह' (रियायत) की याचना करें, परन्तु ऐसा प्रायः उन्हीं देशों में होता था, जिनमें अकाल, चोरियों और अटवियों के आक्रमण हुआ करते थे। कौटिल्य के आदेश से यह भी सूचित होता है कि जिन अनुग्रहों की याचना की जाती थी, वे आर्थिक हुआ करते थे क्योंकि कौटिल्य ने कहा है कि केवल वह अनुग्रह और परिहार प्रदान किए जाने चाहिए जिनसे राजकोष की वृद्धि हो और जिनसे कोष क्षीण होता हो, उनके प्रदान से बचना चाहिए, क्योंकि पौर-जानपद को वही राजा सहता है जिसके पास धन कम होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार अकाल के समय परिहार प्रदान करना चाहिए और जब सिंचाई के लिए ताल आदि बनवाने की आवश्यकता हो, तब अनुग्रह प्रदान करना चाहिए। रुद्रदामन ने सुदर्शन ताल का जो जीर्णोद्धार कराया था, उसको वह पौर जानपद के प्रति अपना अनुग्रह प्रदान बतलाता है।[1]

(५) पौर जानपद का महत्त्व

पौर जानपद के महत्त्व को इतने ही से समझा जा सकता है कि यदि वे चाहें तो राज्य को बना सकते हैं और चाहें तो नष्ट भी कर सकते हैं इसलिए राजा को अपने आचरण से उन्हें प्रसन्न या अनुकूल रखना चाहिए और उन्हें किसी प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए। संभवतः इसीलिए रुद्रदामन कहता है कि उसने सुदर्शन ताल के निर्माण में आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए पौर जानपद जन या संस्था को कष्ट नहीं दिया।[2]

---

१ पौरजानपदजनानुग्रहार्थं---
२ अपीडयित्वा कर-विष्टि प्रणयक्रियाभि---

पौर-जानपद प्रायः अनुग्रह की याचना करते थे और अनुग्रह प्राप्त करते थे। कौटिल्य के अनुसार शत्रु के देश के पौर जानपदों (निवासियों) को अपने गुप्त दूतों के द्वारा यह परामर्श सिखाना चाहिए कि आप लोग अपने राष्ट्र राजा से 'अनुग्रह' (रियायत) की याचना करें, परन्तु ऐसा प्रायः उन्हीं दशाओं में होता था, जिनमें अकाल, व्याधियाँ और अटवियों के आक्रमण हुआ करते थे। कौटिल्य के आदेश से यह भी सूचित होता है कि जिन अनुग्रहों की याचना का जाना थी, वे आर्थिक हुआ करते थे क्योंकि कौटिल्य ने कहा है कि केवल वह अनुग्रह और परिहार प्रदान किए जाने चाहिए जिनसे राजकोष की वृद्धि हो और जिनसे कोष पुष्ट होता हो, उनके प्रदान से बचना चाहिए, क्योंकि पौर-जानपद को वहां राजा समझता है जिसके पास धन कम होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार अकाल के समय परिहार प्रदान करना चाहिए और जब सिंचाई के लिए ताल आदि बनवाने की आवश्यकता हो, तब अनुग्रह प्रदान करना चाहिए। रुद्रदामन ने सुदर्शन ताल का जो जीर्णोद्धार कराया था, उसको वह पौर जानपद के प्रति अपना अनुग्रह प्रदान बतलाता है।[1]

(५) पौर जानपद का महत्त्व

पौर जानपद के महत्त्व को इतने ही से समझा जा सकता है कि यदि वे चाहें तो राजा को बना सकते हैं और चाहें तो नष्ट भी कर सकते हैं इसलिए राजा को अपने आचरण से उन्हें प्रसन्न या अनुकूल रखना चाहिए और उन्हें किसी प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए। संभवतः इसीलिए रुद्रदामन कहता है कि उसने सुदर्शन ताल के निर्माण में आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए पौर जानपद जन या संस्था को कष्ट नहीं दिया।[2]

---

१ पौरजानपदजनानुग्रहार्थ...

२ अपीडयित्वा कर-विष्टि प्रणयक्रियाभि ...

(६) सैन्य-विभाग

सैन्य विभाग का सबसे महत्त्व का अंग सैन्य संगठन तथा युद्ध-संचालन था। सेना की कल्पना अब भी चतुरंगिणी थी, अर्थात् इसमें (१) पदाति, (२) अश्व, (३) गज और (४) रथ होने चाहिए। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है।[१] सेना के अंगों में 'गज' का बहुत महत्त्व था। तत्कालीन सैन्य संगठन में उसका वही स्थान था जो आधुनिक काल की सेना में 'टैंकों' को प्राप्त है। हाथियों के महत्त्व को हम इतने ही से समझ सकते हैं कि विदेशी आक्रमणकारी सेल्यूकस और चंद्रगुप्त मौर्य की संधि में चंद्रगुप्त ने ५०० हाथियों की सेना भेंट की थी।

सैन्य संचालन के लिए अलग-अलग अधिकारी होते थे। सबसे प्रधान अधिकारी को 'महासेनापति' और अंग विशेष के अधिकारी को सेनापति कहते थे। महासेनापति का तो नहीं सेनापति का उल्लेख शक अभिलेखों में हुआ है।[२] श्रीधरवर्मन के कानखेरा प्रस्तर लेख में भी सेनापति का उल्लेख मिलता है।[३]

सेना के पदाधिकारियों की नियुक्ति उनकी योग्यतानुसार होती थी। यहाँ सेना के भरती में वंशानुगत क्षत्रिय आदि जातियों को प्रमुखता तो दी जाती थी किन्तु उनमें भी योग्य व्यक्तियों का चुनाव होता था। इस प्रकार का उदाहरण रुद्रसिंह प्रथम के काल के 'गुण्डा प्रस्तर लेख' में मिलता है जहाँ सेनापति एक आभीर बतलाया गया है। इस प्रकार सेना में भरती होने की 'मौल' व्यवस्था प्रचलित थी। इसको मौल हम इसलिए कहेंगे क्योंकि सेनापति बापक के बाद उसका पुत्र रुद्रभूति सेनापति नियुक्त हुआ—पिता के बाद पुत्र।

---

१ विपुल कीर्तिना तुरग-गज-रथचर्यासि-चर्म-नियुद्धाद्या...

२ एपि० इ० १६/२३२।

आभीरेण सेनापति बापकस्य पुत्रेण सेनापति रुद्रभूतिना

वही पृ० ११६।

(७) युद्ध में नैतिक परम्पराओं का पालन :

यद्यपि इस युग में राजा प्रायः युद्धरत रहते थे, तथापि सिद्धान्तत यह माना जाता था कि जब राजनीतिक प्रश्नों के सुलझाने का अन्य कोई उपाय सुलभ न हो तभी युद्ध करना चाहिए। शरद, हेमंत और शिशिर युद्ध के लिए उपयुक्त ऋतुएं समझी जाती थीं बसन्त मध्यम और ग्रीष्म अधम। वर्षा ऋतु, युद्ध के लिए वर्जित समझी जाती थी क्योंकि उस समय शम (शान्ति) ही उपयुक्त था। किन्तु गौ, ब्राह्मण, स्त्री का विनाश उपस्थित होने तथा अन्य अनिवार्य परिस्थितियों में कभी भी युद्ध हो सकता था।

वास्तविक युद्ध में नैतिक परंपराओं के पालन का विधान था, यद्यपि यह कहना कि कहाँ तक उनका निर्वाह होता था, कठिन है। धर्म से मृत्यु श्रेय है, पाप-कर्म से जय नहीं।[1] शरणागत को किसी अवस्था में भी नहीं मारा जाता था, यद्यपि शत्रुओं का प्रायः से इस नैतिक नियम का दुरुपयोग होता था। वृद्ध, बाल और स्त्री अवध्य माने जाते थे। भागता हुआ शत्रु विफल, दूत तथा हलवाहक पर कभी आक्रमण नहीं किया जाता था। शक काल में ये नैतिक नियम भुलाये नहीं गए थे।[2]

---

१ महाभारत ९६।१७।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

२ महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख :
सत्य प्रतिज्ञेन अन्यत्र संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु प्रहरण वितरण-त्वाविगुणरिपु....त कारुण्येन स्वयमभिगतजन-पदप्रणिपति।

३ अर्थशास्त्र १।१३।६।

गूढ़ पुरुष राजा और प्रजा के मध्य के पुराने इकरार और उसके संबंध के हिन्दू सिद्धान्त का स्मरण दिलाते थे जिससे राजत्व प्रथा का प्रारंभ हुआ था और जो राजत्व का मूल आधार था। वे कहते

(८) राजस्व व्यवस्था

राष्ट्र संगठन की दृष्टि से राजकर के संबंध में हिन्दू सिद्धान्त बहुत अधिक महत्त्व का है। राजकर धर्मशास्त्रों के अनुसार निश्चित था और पवित्र सार्वजनिक धर्म के अनुसार यह भी निश्चित था कि कौन-कौन सा 'कर' किस हिसाब से लिया जाना चाहिए। इसका परिणाम यह होता था कि शासन-व्यवस्था चाहे जिस प्रकार की होती थी, परन्तु राजकर के संबंध में राजा और प्रजा में कोई झगड़ा ही खड़ा नहीं हो सकता था। झगड़े और अत्याचार की जो खास जड़ थी उसका बचाव इस प्रकार कर दिया गया था।[1] (पृष्ठ ७७ देखें)

ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि राजकर संबंधी जो नियम थे, उनका सब अवस्थाओं में पूर्णरूप से पालन होता था। उदाहरण के लिए शातवाहन राजवंश की महारानी बलश्री का शिलालेख प्रमाण है जिसमें घोषित किया गया है कि उसका पुत्र पवित्र धर्म-व्यवस्था के अनुसार 'राजकर' लिया करता था।[1] महाभारत का यह कथन ध्यान देने योग्य है 'जो लालची राजा ऐसे 'कर' एकत्र करने के लिए, जो शास्त्रों से अनुमोदित नहीं हैं, मूर्खतापूर्वक अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है वह स्वयं अपने ही साथ अन्याय करता है।[2] संभवतः इसीलिए महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम अपने शिला-

---

ये—'जिस समय अराजकता फैली और उससे प्रजा पीड़ित हुई, उस समय प्रजा विवस्वत के पुत्र मनु के पास गयी थी। वहाँ उन लोगों ने प्रत्येक रूप में राज का अंश निश्चित कर दिया था कि फसल का छठा अंश ले और व्यापार व्यवसाय की चीजों के मूल्य का नगद दसवाँ हिस्सा ले। प्रजा के योगक्षेम के लिए राजाओं का इतना ही अंश निश्चित है।

१ आर्के० सर्वे० रि० वे० इं० ४।१०८।

२ शान्तिपर्व ७१।१४।

क्षेत्र में 'तत्प्रविष्टेम' एवं 'यथावस्थासैर्विशुद्धभागैः' आदि शब्दावलियों का प्रयोग करता है।"

साहित्य में ऐसे कई दिलचस्प उदाहरण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'राजकर' के संबंध में धर्म द्वारा निश्चित जो सिद्धान्त थे, उनका उल्लंघन नहीं होता था। सम्राट चन्द्रगुप्त को सेल्यूकस के साथ युद्ध करने के लिए धन की आवश्यकता थी। उसने और उसके महामात्य ने धन-संग्रह करने के लिए अपना सारा बुद्धि-बल लगा दिया। धर्म के अनुसार जो राजकर प्राप्त होता था, वह इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं था। जैसा कि अर्थशास्त्र से विदित होता है, उन लोगों को कुछ और विलक्षण उपायों का आश्रय लेना पड़ा था। इससे एक ओर तो धर्म का महत्त्व सूचित होता है और दूसरी ओर यह सिद्ध होता है कि धर्म द्वारा निश्चित राजकर के संबंध में कितनी कठिनाइयां थीं। चंद्रगुप्त ने अपनी प्रजा से प्रणय की भिक्षा की थी, अर्थात कहा था कि आप लोग मुझे अपना प्रेम सूचित करने के लिए धन दें। महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम ने भी इसी प्रकार के प्रणय की याचना की थी—'अपीडयित्वा कर-विष्टि-प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदजनं।'

(६) करों पर मंत्रि परिषद का अधिकार

राजकर से जो आय होती थी, उस पर मंत्रिपरिषद् का पूरा-पूरा अधिकार होता था, और उसी को राजकर एकत्र करने का भी अधिकार प्राप्त था। समस्त व्यय भी उसी के हाथ में था।[1] ईस्वी द्वितीय शताब्दी (१५०) में रुद्रदामन को सुदर्शन नामक झील की मरम्मत कराने में अपने कोष से धन देना पड़ा था। उसके मंत्रियों में इस विषय पर मतभेद हो गया था।[2]

---

१ अर्थशास्त्र ५।१। १२७।

२ स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन...। अस्मिन्नर्थे महाक्षत्रपस्य मति-सचिव कर्मसचिवैरमात्य-गुण-समुद्युक्तैरप्यति महत्वाद्भेदस्यानुत्साह-विमुख-मतिभिः.....

लगाये जाने चाहिए। उनके संग्रह का ढंग कष्टदायक नहीं होना चाहिए।[1]

(६) शिल्प की वस्तुओं पर 'कर' लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कितना लाभ होने पर कारीगर कोई चीज तैयार करने में लगा रहेगा जिससे राजा को भी लाभ होता रहे।[2]

(७) वाणिज्य की वस्तुओं पर 'कर' लगाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि किसी चीज की बिक्री का दाम क्या है, खरीद का दाम क्या है, कितनी दूर से आयी है, उसके लाने में कितना व्यय पड़ा है, कुल लागत कितनी आयी है और उसके लिए व्यापारी को कितनी जोखिम उठानी पड़ी है।[3]

तात्पर्य यह कि आर्थिक परिस्थितियों का सब स्थानों में ध्यान रखा जाता था। उत्पादक वर्ग दबाया या सताया नहीं जाता था। मूल धन पर नहीं बल्कि लाभ पर कर लगता था। जिन वस्तुओं से नए-नए शिल्पों का विकास होने की संभावना होती थी उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था।

(१२) राजस्व के स्रोत

शक अभिलेखों का अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित राजस्व स्रोतों को देखते हैं —

(क) बलि : राजा को स्वेच्छा से दिये जाने वाले करों या अन्य

---

१ वही १२।८८।१२।

न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥

२. मनु० ७।१२९।

३ वही ७।१२७।

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्॥

उपहारों के लिए इसका प्रयोग हुआ है। यह एक प्रकार का नियमित कर था।[1]

(ख) शुल्क : आजकल जिसे हम आयात निर्यात संबंधी 'कर' कहते हैं, प्राचीन काल में उसी को 'शुल्क' कहते थे। इसको कर निश्चित करने में राजा को सम्भवतः थोड़ी बहुत सुविधा थी, यद्यपि परवर्ती धर्मशास्त्रों में कुछ नियम निश्चित करके इसका भी निर्धारण करने का प्रयत्न किया गया था, फिर भी लोभी अथवा धर्मसंकट में पड़ा राजा अपने विकास के लिए कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेता था।

(ग) भाग : इसका तात्पर्य यहाँ खेती संबंधी कर से है। 'भाग' उस भूमि को कहते हैं, जिस पर जोतने वाले का स्वामित्व रहता है और राज्य उससे उसकी सुरक्षा का छठा भाग लेता था। इसीलिए धर्मशास्त्रों में राजा को 'षड्भागभुक' कहा गया है; परन्तु कभी-कभी विभिन्न दशाओं में यह 'कर' कम भी आता था। 'देवमातृका' पर कर की मात्रा कम होती थी। देवमातृका उस भूमि को कहते हैं जिसकी सिंचाई प्रकृति स्वयं करती है। 'अदेवमातृका' पर कर की मात्रा राज्य निश्चित करता था। वह इस प्रकार की भूमि पर 'कर' की मात्रा घटा-बढ़ा सकता था, इसलिए, क्योंकि इस प्रकार की भूमि की सिंचाई का प्रबंध राज्य स्वयं करता था।

(घ) प्रणय : विशेष 'कर' के लिए राजा प्रजा से याचना करता था। इस 'याचना' को ही 'प्रणय' कहा गया है।

(ङ) विष्टि : इसको बेगार कहा जाता था। प्राचीनकाल में यह उचित समझा जाता था कि जो गरीब आदमी नकद या धन्यादि के रूप में सरकार को 'कर' देने में समर्थ न थे वे शारीरिक श्रम के रूप में राज्य का पुण्य 'कर' दे दें। सरकार के लिए 'विष्टि' लागू करने पर वे सरकार से भोजन पाने के अधिकारी थे।[2]

१ डा० अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प० पृ० २६०।
२ मर्त्यं च सम्यो दयात्। गौ० ध० सू० १०।३१।

(७) नावापुरुषतर : इसको नावापार शुल्क कहा जा सकता है। नाव से नदी पार करने पर 'कर' देना पड़ता था, इसका उल्लेख नहपान के नासिक गुहाभिलेख में मिलता है।[१] इसके अनुसार राजा ने 'नाव-कर' को हटा दिया था।

(८) न्याय-व्यवस्था : अत्यंत प्राचीन काल से न्याय की व्यवस्था और अपराधियों को दण्ड राजा का परम कर्तव्य माना जाता था। वादी और प्रतिवादी के विवादों को देखने और निश्चय करने के समस्त कार्यक्रम को 'व्यवहार' कहते थे। साधारणतया 'व्यवहार का अर्थ लोग आचार-विचार से लगाते हैं, किन्तु यहाँ व्यवहार का तात्पर्य विवाद से है : वि (नाना अर्थों में) + अव (संदेह) + हार (हरण) के कारण इसको व्यवहार कहा जाता है।[२] व्यवहार शब्द का उल्लेख महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ़ शिलालेख में हुआ है।

(१३) अंतरराष्ट्रीय संबंध एवं व्यवहार

राज्यों के परस्पर संबंधों के विषय में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं परंपरा से नीति एवं सिद्धान्तों का विकास हो चुका था। प्रत्येक समर्थ और महत्त्वाकांक्षी राज्य इनके प्रति जागरूक रहते थे। भारतीय राज्य की कल्पना ही अंतरराष्ट्रीय थी। इसके अनुसार राज्य की सात प्रकृतियों में मित्र भी एक था। जिस प्रकार राज्य के योगक्षेम में 'कोष' और बल सहायक होते हैं उसी प्रकार मित्र के बिना कोई राज्य उन्नति नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक राज्य का यह उद्देश्य होता था कि वह अपने पड़ोसी राज्यों में से यथासंभव अधिकतम राज्यों को अपना मित्र बनाये। संभवतः इसीलिए महाक्षत्रप रुद्रदामन अपने

१ एपि० इं० भा० ८ पृ० ७८।
'नावापुरुषतरकरेय'

२ वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते
नानासंदेह-हरणात् व्यवहार इति स्मृतः।।व्यवहारमातृका पृ० २८२।

पड़ोसी राज्यों में विवाह संबंध स्थापित करता है।[१] महाभारत[२] और कामसूत्र[३] में चार प्रकार के 'मित्रों' का उल्लेख मिलता है। छहरातों के साथ उत्तमभद्रकों की मित्रता रही होगा तभी वे मालवों के आक्रमण से बच सके। नहपान का जामाता उषवदात ने मालवों के आक्रमण से उत्तमभद्रकों की रक्षा की थी।[४] महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम ने दक्षिणापथ के स्वामी को इसीलिए छोड़ दिया था कि उसका उनसे दूर का संबंध था। विवाह संबंध और मैत्री संबंध के अतिरिक्त भी, अंतरराष्ट्रीय संबंध को बनाए रखने के लिए, एक उदाहरण मिलता है। और वह है विजित राजाओं को उनका राज्य वापस लौटा देना।[५]

(१४) द्वैराज्य शासन प्रणाली

शक-शासन की प्रमुख विशेषता 'द्वैराज्य-शासन-व्यवस्था' थी। इस शासन-प्रणाली में राजा का भाई पुत्र, पौत्र, भतीजा आदि शासन-क्षेत्र में सह-शासक की हैसियत रखते हैं। द्वैराज्य शासन प्रणाली में शासक का समान अधिकार प्राप्त होता है। इस शासन व्यवस्था में चष्टन और रुद्रदामन के संयुक्त शासन का उदाहरण दिया जा सकता है।[६] चष्टन और रुद्रदामन के संयुक्त शासन का प्रमाण 'अन्धउ प्रस्तर लेख ५२' है।

---

१ नरेन्द्र कन्या स्वयंवरानेक माल्य प्राप्त-दाम्ना,
जूनागढ़ लेख पंक्ति, १२।

२ शांति पर्व ८०।१।

३ कामसूत्र ८।७४ : औरसं पूर्वसंबंध तथा वंशक्रमागतम्।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्।
एपि० इं० ८।१०।३८।

४ वही ८।८२ 'निजयेन प्रत्यराज्यप्रतिष्ठापयन्'

५ पा० हि० एं० इं०पृ० ३११।

द्वैराज्य शासन-प्रणाली की व्याख्या करते हुए डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने, कहा है कि "यह न तो एकराज अथवा ऐसा शासन था जिसमें कोई एक ही वंशानुक्रमिक राजा शासन करता था, और न ऐसा शासन था जिसमें थोड़े से विशिष्ट या बड़े-बड़े लोगों के हाथ में शासनाधिकार होता था। यह ऐसी शासन-प्रणाली थी, जो केवल भारत के ही इतिहास में पाई जाती है। हमारे यहाँ के साहित्य एवं शिलालेखों में इस प्रकार की शासन-प्रणाली के कई ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध हैं। अभिलेखों में इस शासन-प्रणाली के जो उल्लेख मिलते हैं, उनके कारण भारतीय अभिलेख पढ़नेवाले विद्वान् बहुत उलझन में पड़ गए हैं और वे इस समस्या का कोई ठीक-ठीक निराकरण नहीं कर सके हैं। ईसवी छठी और सातवीं शताब्दी में नेपाल इसी प्रकार की शासन-प्रणाली के अधीन था। लिच्छवि राजवंश तथा ठाकुरी राजवंश के राजाओं के ठीक एक ही समय के शिलालेख काठमाण्डू में पाये गए हैं। ये एक ही राजधानी में दो स्थानों से निकली हुई घोषणाएँ हैं जिनकी तिथियों से प्रमाणित होता है कि वे दोनों राजवंश साथ साथ और एक समय में शासन करते थे।"[1]

किन्तु स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल का यह कहना कि इस (द्वैराज्य शासन-व्यवस्था) व्यवस्था का ज्ञान सिर्फ भारतीयों को था उनकी भूल थी। यदि हिन्दू शक-पार्थवों के सिक्कों का अध्ययन किया जाय तो डा० काशीप्रसाद जायसवाल की भूल पकड़ी जा सकती है। स्पलिरिसिस व अयेस, हगान व हगामष आदि मिलकर द्वैराज्य-पद्धति से राज्य करते थे।

अब हम शक-कालीन शासन-पद्धति पर विचार करेंगे। शक आक्रमण तत्कालिक गणों की रक्षा का नाश न कर सके थे, जो मौर्य काल में चन्द्रगुप्त द्वारा शासित होते थे किन्तु उनके पतन के थोड़े ही दिन बाद वे स्वतंत्र हो गए। सिक्कों व अभिलेखों से उस काल के अनेक

1 हिन्दू राजतंत्र पृ० १३१-३२।

गणों का पता चलता है, मालव, यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन आदि। दुर्भाग्य ही कहिए कि उस काल के प्रमाणों से इनके आंतरिक संगठन के बारे में हमें अधिक ज्ञान नहीं हो सका है।

(१५) शासन पद्धति

(क) केन्द्रीय शासन : यद्यपि शक गणों की सत्ता को समाप्त नहीं कर सके तथापि उन्होंने उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक राजवंशों का नाश किया और एक नए राजवंश की स्थापना की। शासन की सुविधा की दृष्टि से शक-शासन तीन विभागों में बँटा हुआ था—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय। केन्द्रीय शासन का प्रधान अधिकारी राजा होता था जिसको 'महाक्षत्रप' कहते थे। ये अपने नाम के साथ बड़े-बड़े विरुद धारण करते थे—मोग अपने नाम के साथ 'रजति रजस महतस' प्रयुक्त करता था। राजूल, 'महक्षत्रप अप्रति चक्रस रजुलस'।[१] शकों से पूर्व भारतीय साहित्य में इतने बड़े-बड़े विरुद नहीं मिलते।

इन शासकों के ये बड़े-बड़े विरुद उन तक ही सीमित न थे अपितु उनके रनिवासों में भी प्रयुक्त होते थे। अशोक की रानियाँ सिर्फ 'देवी' के नाम से जानी जाती थीं। उदाहरण के लिए तीवर की माँ 'कुलीसा देवी' के नाम से पुकारी जाती थी और सबसे बड़ी रानी 'प्रथमा देवी' के नाम से जानी जाती थी। किन्तु शक काल में हम 'प्रथमादेवी' के स्थान पर 'अग्रमहिषी' विरुद पाते हैं।[२]

इस संबंध में ध्यान देने योग्य एक और बात है और वह यह कि ये शाही विरुद जो किसी काल में कभी सम्राटों के लिए प्रयुक्त होते थे, दूसरे काल में वे छोटे शासकों के लिए प्रयुक्त होने लग जाते हैं।

---

१ न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल १८८८ ९२ पृ० १०२।

२ एपि० इं० ३।१४१।
'महक्षत्रप रजुलस अग्रमहेषि

जैसे 'राजा'। इस उपाधि का प्रयोग मौर्य काल में सम्राटों के साथ हुआ था। किन्तु यही चक्रवर्ती की उपाधि शकों और गुप्तों के काल में उनके सामन्तों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। और फिर 'महाराज' जो कि शक काल में सम्राट का विरुद होता था, गुप्तों के काल में यही अधीनस्थ राजाओं के लिए प्रयुक्त होने लगे थे।

(ख) मन्त्रिपरिषद् : इन राजाओं को शासन सम्बन्धी सुझाव देने के लिए उनका एक मंत्रिपरिषद् होता था। मंत्रिपरिषद् सिर्फ सुझाव ही नहीं देता था उसको कार्यान्वित भी करवाता था। यदि यह किसी बात पर अटल हो जाता था तो राजा कुछ नहीं कर सकता था। शक काल में ये मंत्री, आमात्य और सचिव दो नामों से जाने जाते थे[१]।

(ग) कोषाध्यक्ष : कोषाध्यक्ष को 'गंजवरेण' कहते थे[२]। कोष में वे ही धन आते थे जो बलि शुल्क और भाग द्वारा प्राप्त होते थे। रुद्रदामन का कोष इन करों से ही धन धान्य से पूर्ण था। उसका कोष कनक (सोना), रजत (चाँदी) वज्र वैडूर्यादि रत्नों से भरा-पूरा था। कोष का धन जन-कल्याणकारी कामों में ही खर्च होता था। इसका मधुर उल्लेख शक अभिलेखों में मिलता है।[३]

(घ) युवराज : केन्द्रीय शासन में राजा का सहायक युवराज भी होता था। 'युवराज खरोष्ठ' का उल्लेख मथुरा सिंह शीर्ष लेख में

---

१ एपि इं ८ । ४२ ।

२. एपि इं ६ । २४७ ।
स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य गंजवरेण ब्राह्मणेन
शैमव-सगोत्रेण ।

३ एपि इं ८ । १ । ७८ ।
भरुकच्छे दशपुरे गोवर्धने शोर्पारगे च चतुशालावसथ-प्रतिश्रय
प्रदेन आराम-तडाग-उदपान-करेण ।

हुआ है। जयसिंगी के शक-कुल में युवराज को 'क्षत्रप' कहा गया है।

(च) प्रान्तीय शासन : शासन की सुविधा की दृष्टि से साम्राज्य कई क्षत्रपियों (प्रान्तों) में विभक्त था। प्रान्त क्षत्रपों, महाक्षत्रपनायकों एवं आमात्यों द्वारा शासित होते थे। राजाधिराज महाराज मोग के शासन-काल में तक्षशिला का प्रान्तीय शासक लियक कुसुलक और शहडौर अभिलेख का चमिकद हजारा क्षेत्र के शासक थे। महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के काल में सुराष्ट्र प्रान्त का शासक आमात्य सुविशाख पह्लव था।

(१६) स्थानीय शासन

(१) जनपद—ये क्षत्रपियाँ भी शासन की सुविधा की दृष्टि से जिलों (आहार-हार) और फिर ग्रामों में विभक्त थीं। 'हार' और 'जनपद'[1] दोनों शब्द किसे के लिए प्रयुक्त किये गए हैं, क्योंकि यदि तत्कालीन अभिलेखों पर दृष्टिपात किया जाय तो 'हार' और 'जनपद' एक ही शब्द के अर्थ के लिए प्रयुक्त किए हुए मिलते हैं।

---

१ जनपद शब्द का कोई ठीक-ठीक अर्थ नहीं किया गया। यह एक विवाद का विषय है। शककाल में जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में युग विभाग की दृष्टि से शककाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदों में बंटा हुआ था। उनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिबद्ध कर ली गयी थी, जो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में [illegible]ठित हैं। पाणिनीय भूगोल का प्रधान अंग जनपद-विभाग है। काशिकाकार ने गाँवों के समुदाय को जनपद कहा है—'ग्रामसमुदायो जनपदः'। यहाँ ग्राम शब्द में नगर का अंतर्भाव समझना चाहिए। वस्तुतः जनपद में नगर और ग्राम दोनों शामिल थे।
डा॰ अग्रवाल, पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ॰ ५७।

(२) पौर—'पौर' शब्द का उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में मिलता है। भारतीय और यूरोपीय लेखकों ने पौर शब्द का अनुवाद करते हुए लिखा है—वह संस्था जो राजा के समस्त नगरों से संबंध रखती हो। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है।[१] प्रारंभिक हिन्दू लेखक पारिभाषिक शब्द 'पुर' और 'नगर' से राजधानी या राजनगर का अभिप्राय लेते थे। पौर वास्तव में नगरवासियों की एक सभा या संस्था थी जिसे राजनगर की आंतरिक व्यवस्था आदि का उसी प्रकार अधिकार प्राप्त होता था, जिस प्रकार आजकल की म्यूनिसिपैलिटियों को प्राप्त है। नगर की इस प्रकार की म्यूनिसिपल व्यवस्था करने के अतिरिक्त उसे राष्ट्र संगठन या व्यवस्था आदि के भी बड़े-बड़े अधिकार होते थे।[२]

पौर में एक लेखक या रजिस्ट्रार भी हुआ करता था। वह जो लेख प्रमाणस्वरूप उपस्थित करता था, वह सर्वोत्कृष्ट समझा जाता था। राजकीय लेखों के विपरीत लौकिक लेखों में पौर-लेखक का लेख्य प्रधान या मुख्य हुआ करता था। इससे सिद्ध होता है कि पौर संस्था की नियुक्ति राजा के द्वारा नहीं होती थी।

पुर या राजनगर में नगर के व्यापारियों की भी एक सभा हुआ करती थी जिसे 'नैगम सभा' कहते थे। राजनगर के व्यापारियों के संघ और राजनगर की व्यवस्थापिका संस्था में इतना अधिक संबंध था कि दोनों को लोग एक ही समझने लगे थे। रामायण में नैगम का उल्लेख सदा पौर के साथ मिलता है। किन्तु उनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि दोनों अलग होने पर भी परस्पर संबद्ध जान पड़ते हैं[३]।

---

१ हिन्दू राजतंत्र, पृ० १९६ ।

२ वही, १९३ ।

३ हिन्दू राजतंत्र, पृ. १०९ ।

नैगम का अपना निजी अधिवेशन भवन और कार्यालय होता था जिसे 'सभा' कहते थे। एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि एक धनवान और उदार व्यापारी ने नैगम सभा के अधिवेशन में यह लिखवाया था कि गोवर्धन नगर के कुछ श्रेणियों के पास मेरा जो धन है, वह अमुक-अमुक दान-कार्यों में लगाया जाय।[1]

पाणिनि के अनुसार निगम शब्द का जिससे नैगम शब्द निकला है, शब्दार्थ होता है—वह स्थान या गृह जिसमें लोग जाते हैं। वह राजधानी का ऐसा स्थान रहा होगा जहाँ व्यापारी और व्यवसायी लोग जाकर आपस में एक दूसरे से मिलते-जुलते होंगे। उसी नियम से संबद्ध लोगों की संस्था नैगम कहलाती था।[2]

शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। ग्राम शब्द का शक अभिलेखों में कई जगह उल्लेख है परन्तु उसके शासन के बारे में वे प्रायः मौन हैं। संभव है ये पौर जानपद संस्था से संचालित होती हों। इन अभिलेखों में जब जब भी ग्रामों का उल्लेख आया है, तब-तब दान वगैरह कल्याणकारी काम उनसे जुड़े मिलते हैं।

शकों के शासन की मुख्य बात यह रही है कि उन लोगों ने राज कर्मचारियों की नियुक्तियों में 'योग्यता' का अनुसरण की। इसमें उन्होंने किसी जाति-विशेष को ही उस क्षेत्र में पनपने नहीं दिया। इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण उनके अभिलेखों में मिलता है जहाँ वे कोषाध्यक्ष-पद पर ब्राह्मण शर्मेव को, अमात्य-पद पर पह्लव सुविशाख को एवं सेनापति-पद पर एक आभीर की नियुक्ति करते हैं।

इस पूरे परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम यही उपसंहारीय संकेत करेंगे कि शकों का राज्य राजतंत्रात्मक था, जो दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त से परे था। दैवी-उत्पत्ति-सिद्धांत में राजा का निर्वाचन प्रजा नहीं देवता करता है। ऐसी दशा में राजा मनमानी भी करने लग

१. एपि इं ८।७२।
२. हिन्दू राजतंत्र § २६१।

जाता है और प्रजा को उसके विरुद्ध बोलने का अधिकार नहीं रहता, क्योंकि राजा बुरा है का मतलब होता है प्रजा ने कोई दुष्कर्म किया है। इस दुष्कर्म के प्रायश्चित्त-स्वरूप देवताओं ने ऐसे राजा को भेजा। ऐसी कोई व्यवस्था हम शक राजनीति और शासन-पद्धति में नहीं पाते। राजा और राज्य हमेशा प्रजा के हित को ध्यान में रखते हुए काम करते थे। उनके कामों के मूल में जनकल्याण की भावना विद्यमान रहती थी। सुराष्ट्र प्रदेश की विद्रोही पौर-जानपद-निवासियों को खुश करने की दृष्टि से ही रुद्रदामन ने सुविशाख को उस प्रदेश का अमात्य (प्रान्तीय शासक) घोषित किया था।[1] जन-भावना को दृष्टि में रखकर ही शक राजाओं ने कुएं, तालाब, आरामगृह आदि का निर्माण कराया था।



१ प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नाना-मानर्त्त-सुराष्ट्राणां पालनार्थंनियुक्तेन पह्लवेन कुलैप पुत्रेणा-मात्येन सुविशाखेन यथावदर्थ-धर्म-व्यवहार-दर्शनानुराग-मभिवर्द्धयता....

सामाजिक जीवन

शकों का भारत आगमन ऐसे काल में हुआ जो वैदिक पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है। भारत में आने से पूर्व वे दस्यु और बर्बर थे। ये लोग खानाबदोशों की तरह चरागाहों की खोज में इधर-उधर भटका करते थे। ऐसे लोगों का न कोई धर्म होता है और न दर्शन। वे जिस संस्कृति से प्रभावित होते हैं उसके अनुरूप अपने को ढाल लेते हैं।

भारतीय समाज की रचना कर्म-सिद्धान्त पर हुई थी। इस समाज रचना में वर्णों को मुख्य स्थान प्राप्त था। वर्ण-व्यवस्था का यह सिद्धान्त कालान्तर में रूढ़िवादी विचारों के जोर पकड़ने के कारण जन्म ने ले लिया। इससे लोगों के आत्मस्वातंत्र्य की भावना दबने लगी। परिणाम-स्वरूप ईसवी पूर्व छठी शती में अवैदिक (श्रमण) धर्म-शासन हुए। इन्होंने मानवता का प्रचार किया (किन्तु वे भी जन्म सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन में पूर्ण रूप से टाल न सके अतः अस्पृश्यता की भावना पनपती रही) फलस्वरूप लोग बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बी बनते गए। समाज की ऐसी ही व्यवस्था में, ईसवी पूर्व द्वितीय के अन्त तथा ईसवी पूर्व प्रथम के प्रारम्भ में, शकों ने भारत में प्रवेश किया।

शकों के प्रारंभिक हमले अत्यंत विध्वंसक हुए। शम्साट का आक्रमण जिसका वर्णन गार्गीसंहिता का युगपुराण करता है अत्यंत दारुण था।[1] इस आक्रमण से भारतीय राज्य नष्ट हो गए, नागरिकों के प्राण बिखर गए, वर्णों की पारस्परिक सीमायें विलुप्त हो गयी। पाटलिपुत्र से पुरुषों का सफाया तौर हो गया। आचार पतनोन्मुख हो

1 ज० बि० उ० रि० सो० १५।१।१८-२६।

गया। ब्राह्मण चाण्डाल का आचरण करने लगे और शूद्र ब्राह्मण से बराबरी का दावा।

उनके सतत आक्रमणों से सूत्रों और धर्मशास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था बिखर गयी। सूत्रों ने जो अनेक प्रकार की शृंखलाओं से विभिन्न वर्ण स्तर प्रस्तुत किये वे इन चोटों से विशृंखलित हो गए। इसीलिए भारतीय समाजशास्त्रियों ने उनको बर्बर और म्लेच्छ कहा।[1] उनमें वर्ण-व्यवस्था न थी और वे इस भारतीय विभिन्नता को समझ भी न सके। उनका आहार-विहार एक साथ होता था। विवाह आपस में निर्बाध होता था। महाभारत में भी ऐसा वर्णन मिलता है कि पंजाब में रहने वालों का इतना नैतिक पतन हो गया था कि उनको अपनी माँ तक नहीं सुझाई पड़ती थी।[2] पंजाब में इस प्रकार के अनैतिक व्यापार इन्हीं विदेशियों के कारण हुआ होगा। यह प्रदेश विदेशियों के अधिकार में अधिक दिनों तक रहा।

ब्राह्मण समाजशास्त्रियों ने चूँकि शकों को म्लेच्छ कहा था उनको चातुर्वर्ण्य स्थान मिलना दुष्कर था। अतः उन्होंने ऐसे समाज और धर्म की खोज करना शुरू किया जिसमें जाति-पाँति एवं वर्ण भेद का कोई विचार न होता हो। ऐसे समाज एवं धर्म का दर्शन उन्हें अवैदिक समाज और धर्म में मिला। संभवतः इसीलिए प्रारंभिक शकों को हम अवैदिक धर्मों के विकास एवं समृद्धि में संलग्न पाते हैं।[4]

---

१ वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवना शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ मनु, १०।४३, ४४।

२ मैकगवन, अर्ली एंपायर्स आफ सेंट्रल एशिया, पृ० ५५।

३ महाभारत ८।४४।

४ प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय "धार्मिक जीवन"

परन्तु यह वैदिक पुनर्जागरण का काल था। वैदिक धर्मावलम्बी यह नहीं चाहते थे कि अवैदिकों के सामने उनका धर्मावलम्बन कम नीचा दिखे। अतः उन्होंने भी अपने समाज में विदेशियों को सम्मिलित करने का विधान किया। उन्होंने इन शकों को मूलतः क्षत्रिय ही बतलाया जो ब्राह्मणों का संपर्क छूट जाने के कारण वृषलत्व को प्राप्त हुए।[1] जो विदेशी यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति स्थापित करने में सफल हुए थे वे सब अब क्षत्रिय वर्ग में सम्मिलित कर लिए गए। ब्राह्मणों के संपर्क में पुनः आने से उनकी वृषलत्वता जाती रही। अब वे भी वैदिक धर्मों की आराधना करने लगे। उनके पुरोहित ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित कर लिए गए। प्राचीन आर्य विचारधारा को उन्होंने भी अपना लिया था। मुल्तान के सूर्यमंदिर में शाकद्वीपी ब्राह्मणों को पुजारी के रूप में नियुक्त करना इसका स्पष्ट परिचायक है।[2]

(१) वर्णव्यवस्था :

ब्राह्मण धर्मावलम्बियों की व्यवस्था से अब शक म्लेच्छ नहीं रहे थे वे भारतीय हो चले थे और उनमें भी वर्णव्यवस्था होने लगी थी। मग, मागध, मानस, मन्दग चार वर्ण थे।[3] किन्तु इनमें से मागध, मानस और मन्दग वर्णों के बारे में हमारे पास अन्य कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। 'मग' शकों के पुरोहित होते थे यह स्पष्ट है।[4] चार

---

१) शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥ मनु० अ० १८।२१।

२ भविष्य, शाम्ब, वराह आदि।

३ मगाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा,
मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठाः मागधाः क्षत्रियास्तथा
वैश्यास्तु मानसास्तेषां शूद्रास्तेषान्तु मन्दगाः॥ विष्णुपुराण।

४ महाभारत ६।१२; कूर्मपुराण ४८।३६।

तीय समाज में उनका पद उच्च ब्राह्मणों के समकक्ष समझा जाता था। आज भी भारतीय समाज में ब्राह्मणों में एक ऐसा वर्ग है जो अपने को बड़े गर्व से शाकद्वीपी कहता है।

समाज में जहाँ तक वर्णों के मान और स्थान का प्रश्न है ब्राह्मण सर्वोपरि समझा जाता था। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में एक जगह गौ और ब्राह्मण की रक्षा करता हुआ रुद्रदामन को बतलाया गया है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में ब्राह्मणों का उच्च स्थान प्राप्त था। अब देखना यह है कि क्या वे ब्राह्मण भारतीय ब्राह्मणों की भाँति कट्टर भी थे। मानव धर्मसूत्र ब्राह्मणों में निम्नलिखित गुणों का होना बतलाया है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।[2] ।७५

अब देखना यह है कि ये गुण इन ब्राह्मणों पर कहाँ तक चरितार्थ होते थे। प्रतिग्रह करते हुए शक ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। जिला शाहाबाद में प्राप्त देवबरणार्क अभिलेख से विदित होता है कि बहुत काल पूर्व 'भोजक' नामक ब्राह्मण वहाँ रहते थे। नागपराज बालादित्यदेव ने उस ग्राम का 'भोजक ब्राह्मण' सूर्यमित्र को सूर्यपूजन के निमित्त दान कर दिया था। बाद में यह गाँव शर्ववर्मन नामक राजा द्वारा 'भोजक' सूर्यमित्र को दान कर दिया गया।[1]

शक अथवा मग ब्राह्मणों का दूसरा नाम 'भोजक' भी था।[3] मानियर विलियम्स ने 'भोजक' शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा है— सूर्यपूजकों या पुरोहितों का एक वर्ग जो मगों के उत्तराधिकारी थे

१ महाक्षत्रपस्य रुद्रदाम्नः वर्षसहस्राय गो-ब्राह्मणार्थं धर्मकीर्ति वृद्ध्यर्थं —
२ मनु० १०।७५।
भविष्यपुराण १४०।३९ ।

तथा भोज जाति की स्त्रियों एवं मगों के साथ विवाह के परिणाम थे।[1] इस प्रकार जैसा कि बेसनगर अभिलेख से विदित होता है शक ब्राह्मण भी प्रतिग्रह आदि पर निर्भर करते थे।

शक क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के बारे में हम अंधकार में हैं। मनुसंहिता शकों को क्षत्रिय की संज्ञा देता है।[2] जूनागढ़ लेख में भी रुद्रदामन को क्षात्र गुणों पूर्ण कहा गया है।[3] किन्तु ध्यान देने योग्य बात यहाँ यह है कि राजा क्षत्रिय ही हो यह उस काल को तथा भारतीय इतिहास को देखते हुए नहीं कहा जा सकता है क्योंकि धर्मशास्त्रानुसार राजा को क्षत्रिय ही होना चाहिए।

(२) विवाह :

आश्रम व्यवस्था का समाज में कहाँ तक पालन होता था इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं है किन्तु उस काल में भी विवाह आदि होते थे। धर्म और दर्शन की दृष्टि से विवाह का संबंध जीवन के पुरुषार्थों से था। धर्म के अभ्यास और संस्कार के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था थी। अर्थ की उपलब्धि तथा काम के सेवन के लिए गार्हस्थ्य और उसके आधारभूत विवाह की आवश्यकता थी। यदि समाज विज्ञानी शब्दों में कहा जाय तो विवाह का उद्देश्य तथा कार्य (१) स्त्री पुरुष के यौन संबंध का नियंत्रण और वैधीकरण,(२) संतान की उत्पत्ति, संरक्षण, पालन तथा शिक्षण और (३) नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का पालन था। विवाह प्रायः सभी के लिए अनिवार्य था। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने की मर्यादा सर्वमान्य थी और सिद्धान्ततः कलि में संन्यास वर्जित था यद्यपि इसके अपवाद स्वीकार्य थे। स्वयं पुरुष स्त्री के बिना आधा ही मनुष्य

---

१ संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० ७२१।

२ मनु० १०/४३,४४।

३ 'शास्त्रार्थो क्षात्र-गुणोत्कर्ष-...भिरनुप्त रुद्रदाम्न अभिषेकृत।

माना जाता था। महाभारत की निम्नलिखित सूक्तियाँ उद्धरणीय हैं जिसमें 'गृह को गृह नहीं कहा गया है, गृहिणी गृह कही जाती है।' 'भार्या मनुष्य का आधा अंग और श्रेष्ठतम सखा है। भार्या त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का मूल और संसार से तरने का साधन भी है।'[1]

धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में वर्णित आठ प्रकार के विवाह इस काल की स्मृतियों[2] की गणना के लिए मान्य थे, यद्यपि इनमें से कई एक अप्रचलित और वर्जित हो रहे थे:

१ पैशाच—यह निम्नतम स्तर पर था जहाँ सुप्ता, मत्ता, प्रमत्ता कन्या से एकान्त में उपगमन किया जाता था। इसमें छल और पशु बल दोनों का प्रयोग होता था।

२. राक्षस—जहाँ कन्या के संबंधियों की हत्या छेदन तथा भेदन कर उसको रोती हुई बलपूर्वक घर से हरवाकर विवाह किया जाता था उसे राक्षस कहते थे। इसके लिए युद्ध हिंसा और पशुबल आवश्यक था। इसीलिए इसको राक्षस कहा गया।

३ गांधर्व—जहाँ वर और कन्या की स्वेच्छा से अन्योन्य संयोग होते थे उसे मैथुन्य कामसंभव गान्धर्व विवाह कहा जाता था।

४ आसुर—जहाँ कन्या के संबंधियों तथा कन्या को शक्त्यानुसार धन देकर स्वच्छन्दतापूर्वक उसका ग्रहण किया जाता था उसे आसुर कहा जाता था।

५ प्राजापत्य—जहाँ माता-पिता या संरक्षक 'तुम दोनों साथ धर्मानुसरण करो' कहकर कन्या को प्रदान कर देते थे उसे प्राजापत्य कहते थे।

---

१ न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते। शांति १४४।६६।
अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः। आदि ७४।४०।

२. मनु० ३।२१।

६ आर्ष—जहाँ एक या दो जोड़े गौ के पर्यंत (सजाय अथवा सानाथ) वर से लेकर विधिवत कन्या प्रदान की जाती थी उसे आर्षधर्म (ऋषिविवाह) कहते थे ।

७ दैव—कन्या को अलंकृत कर यज्ञकार्य में लगे हुए ऋत्विज को दिया जाना दैव विवाह कहलाता था क्योंकि देवकर्म से इसका संबंध था । इसीलिए इसको दैव कहते थे ।

८. ब्राह्म—जब कन्या का पिता अथवा अभिभावक उसको भली भाँति वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर विद्वान तथा आचारवान वर को स्वयं बुलाकर और उसका आदर करके कन्यादान करता था तब उसे ब्राह्म विवाह कहते थे । विवाह की यह सबसे सात्विक और सरल प्रथा थी । अतः भारतीय इतिहास के प्रायः सभी कालों में यह अधिक प्रचलित रही ।[1]

उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त स्वयंवर भी एक प्रकार था ।[2] इसमें कन्याओं को अपना पति चुनने का अधिकार प्राप्त रहता था । जो कन्या स्वयं अपना वर चुनती थी उसे स्वयंवरा कहते थे । धर्मशास्त्र के अनुसार ऋतुमती होने के तीन वर्ष के भीतर यदि पिता अथवा अभिभावक कन्या के विवाह की व्यवस्था नहीं कर पाते तो कन्या को अधिकार था कि वह अपना वर स्वयं चुने ।[3]

(३) बहुपत्नी प्रथा

यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से समाज में प्रचलित थी । किन्तु प्रचलित होते हुए भी समाज इसको हेय दृष्टि से देखता था । अधिकांशतः यह राजकुलों तथा धनिक वर्गों में ही पाया जाता था ।

---

१ डा० राजबली पाण्डेय, हि० सा० पू० इ० २।२।१६ ।
ए रि० ई० ८।४२ ।

२ त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम्
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् । बौ० ध० सू० ४।१।१४ ।

राजों में बहुपत्नी प्रथा का वर्णन हेरोडोटस करता है।[1] पेरिप्लस के अनुसार नहपान का रनिवास स्त्रियों से भरा रहता था।[2] जूनागढ़ अभिलेख में रुद्रदामन को 'नरेन्द्र कन्या स्वयंवरानेक माल्यप्राप्तदाम्ना' कहा गया है।[3]

(४) अन्तर्जातीय विवाह

वैदिक साहित्य में इस प्रकार के विवाहों का उदाहरण मिलता है जिसमें ब्राह्मण क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर लेता था।[4] किन्तु सूत्रों और स्मृतियों के काल से ऐसा विवाह पर रोक लगाया जाने लगा। तथापि अनुलोम (उत्तम वर्ण के वर का अवर वर्ण की कन्या के साथ) विवाह वैध माना जाता था। इस संबंध को कान्हेरी अभिलेख स्पष्ट करता है जहाँ शातकर्णि को रुद्रदामन का जामाता कहा गया है।[5] शातकर्णि ब्राह्मण था।

(५) स्त्रियों की दशा

वैदिक युग में पत्नी पति के साथ बैठकर यज्ञ करती थी।[6] उसके बिना पति का यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था। किन्तु १०० ई० पू० में उसका इतना अधः पतन हुआ कि वह शूद्रा मान ली गयी।[7] उसकी इस दुरवस्था का मूलकारण चाहे तो कर्मकाण्ड प्रधान धर्म था, किन्तु

१ हेरोडोटस ४।७८।
२ डा० चट्टोपाध्याय, दि शकाज इन इण्डिया, पृ० ३६।
३ एपि० इं० ८।४२।
४ श० ब्रा० ४।१।५।
५. आर्के० सर्वे वे० इं० ५।१११७८।
६ ऋ० ५।२८।१ में सायण की व्याख्यानुसार विश्ववारा प्रातःकाल यज्ञ करती है। ऋ० १०।८६।१० में स्त्रियों के यज्ञ में भाग की चर्चा है।
७ हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १९१।

बाद में वैराग्यमूलक धर्म भी सहायक हुआ।[१] इस प्रकार नारी की अवस्था दिन-प्रति दिन हीन होती गयी।

स्मृतियुग के पूर्व स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था थी। वेदों के युग में कन्या को ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार था, उसका उपनयन संस्कार होता था और उसे उच्चतम् आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा मिल सकती थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, घोषा आदि स्त्रियों ने मंत्रद्रष्टा ऋषि पद को प्राप्त किया था। उपनिषदों में अनेक विदुषी और ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। प्रायः रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों के युग तक यह परंपरा चलती रही। रामायण में कौशल्या और महाभारत में द्रौपदी क्रमशः मंत्रविद् और पंडित कही गयी हैं, परन्तु बौद्ध युग के आरम्भ होते ही अधिक संख्या में भिक्षुणी बनने और तत्पश्चात् यवन-पह्लव-शक-कुषाणादि के आक्रमण के कारण स्त्रियों की उच्च शिक्षा के स्थान पर उनकी सुरक्षा तथा गोपनीयता ने स्थान ग्रहण किया।[२]

गार्गी संहिता के युगपुराण में उल्लेख है कि इन आक्रमणों से विशेषकर सम्राट शक के बाद, भारतीय कुल-व्यवस्था लगभग विनष्ट हो गयी। इस वस्तुस्थिति में जब लोक आकुल हो गया, समाज विपन्न हो गया तब इस राजनीतिक और सामाजिक विप्लव के परिणाम को संभालने के लिए भारतीय समाजशास्त्री चिन्तित हो उठे। धर्मसूत्रों में समाज को फिर से नियम देने की व्यवस्था की गयी। इस वैदेशिक प्रवाह और विप्लव में प्राण भी संकट में पड़ गये थे, स्त्रियों की भी बड़ी दुर्दशा हुई। उनकी विपत्ति की दशा और समाज की विकृति समझ सूत्रकारों ने उनकी पुनर्व्यवस्था की। परन्तु उनकी व्यवस्था स्त्रियों के प्रति निर्मम सिद्ध हुई।[३] मनु के अनुसार "पति ही कन्या

१ शान्तिपर्व अ० ९०।८ "[illegible]।"

२. हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १८० कु० नी० सं० ९८।

३ डा० उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, ८६-८

का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार पति की सेवा ही आश्रमनिवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान था।[1]

पत्नी को गृहस्वामिनी का सा अधिकार प्राप्त था। इसी अधिकार के कारण महाक्षत्रप राजूल की अग्रमहिषी मथुरा सिंह शीर्ष लेख[2] लिखवा सकी थी और उषवदात की पत्नी दानादि कार्यों में अपने पति के साथ रहती थी।[3]

स्त्री के अनेक रूपों में मातृत्व सबसे अधिक आदरणीय और महत्त्व का माना जाता था। वास्तव में माता होने ही में स्त्री-जीवन की सार्थकता समझी जाती थी। माता होने के साथ ही स्त्री का घर में स्थान और महत्त्व दोनों बढ़ जाते थे। महाभारत में माता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। माता के समान कोई शरण नहीं और न तो उसके समान कोई गति। माता के सदृश कोई त्राण नहीं और न उसके बराबर कोई प्रिय।[4] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं।[5] मनुस्मृति में स्त्रियों के ऊपर कठोर नियंत्रण का विधान है, किन्तु उसके अनुसार भी माता का स्थान बहुत ऊँचा है दस उपाध्यायों से आचार्य श्रेष्ठ होता है, शत आचार्यों से पिता। माता-पिता से सहस्रगुना श्रेष्ठ होती है।[6] संभवतः

१ वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ मनु० २।६७।

२ एपि० इं० ६।१४१।

३ वही, ७।११।८१; ८।१३।८८।

४ नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ शांति, २६७।३१।

५ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः। शांति, १४३।१८।

६ उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ मनु० २।१४५-४६।

इसीलिए अपने नाम के आगे लोग अपनी माता का नाम लगाने लगे थे। सातवाहन वंश का इतिहास माता के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने में तो अग्रणी है। महाक्षत्रप शोडास के काल के मथुरा आयागपट्ट लेख में भी इस तरह का वर्णन मिलता है जहाँ अमोहिनी नामक स्त्री के पुत्रों ने अर्हत पूजा के निमित्त आयागपट्ट का निर्माण किया था।[1]

भारतीय समाज-व्यवस्था पर इस शक आक्रमण का एक प्रभाव भी पड़ा जिससे बाल-विवाह का आविर्भाव हुआ। विदेशी लुटेरों से अपनी तरुण कन्याओं की रक्षा-हेतु ही इसका विधान बना किया था; क्योंकि पति का अपनी पत्नी की रक्षा कर सकना अनेक बच्चों वाले पिता का अपेक्षा सहज था। संभवतः इसीलिए सूत्रकारों ने इस सूत्र की रचना की

प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति।

वसिष्ठ

अर्थात् पिता को अपनी कन्या को उसके युवती होने से पहले ही, ऋतुमती होने से पूर्व ही ब्याह कर देनी चाहिए; यदि वह ऋतुमति होने पर भी अपने घर रह जाती है तो पिता पाप करता है। एक स्थल पर तो नग्निका को, जो अभी ठीक से कपड़ा पहनना भी नहीं जानती, ही श्रेष्ठ कहा गया है।[2]



१ एपि० इं० १।२४३-४४।
२ नग्निका तु श्रेष्ठा। गोभिल, ३।४।

आर्थिक-जीवन

भारतीय समाज ने जब तक शकों को बर्बर समझा उन्होंने वैसा ही (बर्बरतापूर्ण) परिचय दिया। उन्होंने देश को रौंद डाला। गाँव के गाँव उजाड़ डाले, खलिहानों में आग लगा दिया, कत्ले आम किया। गार्गी संहिता के युगपुराण में कहा भी गया है—तब लोहिताक्ष सम्राट नाम का महाबली जनसमूह से अत्यन्त शक्तिनाम हो उठेगा और पुष्पनाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे सभी शक लोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी लोहिताक्ष सम्राट रक्तवस्त्र के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति की अपगामी कर वह मनुष्यों को नष्ट कर देगा।[1]

किन्तु बाद में जब भारतीय समाज ने उनको अभय दिया और उनको मूलतः क्षत्रिय बतलाया था ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से वृषलत्व को प्राप्त हुए थे[2] तो उनमें भी वर्ण-विभाजन हुआ।[3] वर्ण धारणों के अनुसार कृषिकर्म व्यापारादि वह भी करने लगे। कर्म के अनुसार इसलिये क्योंकि वह ब्राह्मणों के समाज में प्रविष्ट हुए थे और ब्राह्मणों ने अपने समाज में ग्रहण कर उनको गौरवान्वित

---

१ युगपुराण ९१-९७।

२ शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥ अनु० प० ३५-२१।

३ मगाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा,
मगाः ब्राह्मण भूयिष्ठा मागधा क्षत्रियास्तथा
वैश्यास्तु मानसा स्तेषां शूद्रास्तेषान्तु मन्दगाः। वि०पु० २।४।६९।

किया था। सम्भवतः इसीलिये रुद्रदामन प्रथम अपने जूनागढ़ लेख¹ में बार-बार कहता है—धर्मानुरागेण, यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः, धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं च अपीडयित्वा कर विष्टि-प्रणयक्रियाभिः आदि।

(१) कृषि—भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि की ओर राजा ध्यान भी देता था। राज्याभिषेक के समय उससे इस बात की प्रतिज्ञा करवायी जाती थी कि वह राज्य की कृषि, क्षेम, सम्पन्नता एवं वर्धन का ध्यान रखेगा।² धर्मशास्त्रों ने कृषि से होने वाली आय का भी निश्चित कर दिया था। धर्मशास्त्रों में राजा को 'षड्भागभृत' कहा गया है। 'भाग' का तात्पर्य यहाँ खेती सम्बन्धी कर से है। भाग उस भूमि को कहते हैं जिस पर जोतने वाले का मालिकाना रहता है और राज्य उससे उसकी सुरक्षा का छठा भाग लेता था, पर कभी-कभी विभिन्न दशाओं में यह 'कर' बढ़ भी जाता था। 'देवमातृका' पर कर की मात्रा कम था। देवमातृका उस भूमि को कहते हैं जिसकी सिंचाई प्रकृति स्वयं करती थी। 'अदेवमातृका' पर कर की मात्रा राज्य निश्चित करता था क्योंकि इस प्रकार की भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध राज्य स्वयं करता था। परिस्थिति के अनुसार काठियावाड़ और उसके आसपास की भूमि में गेहूँ, धान, गन्ना आदि की फसल हुआ करती थी।³ गेहूँ उनका मुख्य खाद्य पदार्थ था।⁴ फिर भी इन स्थानों में कम भी न जहाँ गेहूँ की पैदावार बहुत होती थी।

---

१ एपि० इ० ८।४२ आगे।

२ इयं ते राट्।— यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥शतपथ ५।२।१।२५।

३ ए० इ० ९।४११।

४ शाद्वलीका पड्लवारर्मोना सप्तीका मधनाः शुक्ला
मोलगोधूमसम्पन्नीकस्तयरत्नरोमिता ॥ निशिथा स्थान
२।११६।

(२) शिल्प—कृषि के बाद आर्थिक जीवन का आधार शिल्प था। शिल्प का तात्पर्य यहाँ उद्योगों से है। प्रायः बड़े-बड़े शिल्प राज्य के हाथ में होते थे। उनका संचालन राजकीय विभागों द्वारा होता था। देश के आर्थिक शासन के हेतु राज्य को उनसे शिल्प-सम्बन्धी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता था और साथ ही उनसे राज्य की आय भी बढ़ती थी। महाभारत में कहा भी गया है।

'व्यापारियों की उत्पादन-शक्ति को सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिये। वे लोग राज्य को बलवान बनाते हैं, कृषि की वृद्धि करते हैं और व्यापार बढ़ाते हैं। इसीलिए बुद्धिमान राजा उनके साथ बहुत ही दया और प्रीति का व्यवहार करते हैं।....राज्य में व्यापारियों और वणिकों से बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं होती।[१]

चमड़ा और फर परिश्रमोत्तर भारत का मुख्य उद्योग था।[२] यदि शकों के वेशभूषा पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि यह उद्योग उस काल खूब फला-फूला होगा। वे लम्बा ओवरकोट पहनते थे जो ठीक आजकल के मार्निंग ड्रेस की तरह होते थे जिस पर फर लगा होता था। पैर तथा कटि-प्रदेश को ढकने के लिये वे लम्बा जूता और शलवार पहनते थे।[३]

वस्त्र-उद्योग भी था। बंग, पुण्ड्र, वाराणसी मगध मथुरा, अपरान्त, कलिंग, वत्स, मैसूर आदि इस उद्योग के मुख्य केन्द्र थे।[४] इस उद्योग में अधिकतर जुलाहे लगे हुए थे जिनको 'कौलिक'[५] कहा जाता था। मुख्य उद्योगों में आकर तथा धातु उद्योग भी थे। इससे

---

१ महाभारत १२।८७।१८-४०।
२ महाभारत २।४८।१९, २।५१।१९।
३ म आर्के० सर्वे इं० १४।१५।
४ कं० हि० इं० १।४११।
५. एपि० इं० ८।१२।८२ आगे।

मूल्यवान, हीरे-जवाहरातों की प्राप्ति होती थी। रुद्रदामन प्रथम का कोश कनक-रजत-वज्र-वैडूर्य आदि रत्नों से भरा था।[१] पेरिप्लस के अनुसार भारत का लोह और इस्पात अपनी धातु की किस्म और मजबूती के लिये मशहूर होने के कारण काठियावाड़ और उसके आस-पास के बंदर से दूर पूर्वी अफ्रीका को जाया करते थे।[२] लोह और इस्पात उद्योग लोहकम (= लोहकार, लोहार) के हाथों में था।[३]
(३) वाणिज्य एवं व्यापार—देश को विभिन्न प्रदेशों और नगरों से मिलाने वाली सड़कें और मार्ग बने हुए थे। दक्षिण भारत में पैठन, नगर, नासिक, जुन्नर, करहाटक (करहाड़) आदि नगर व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनके अतिरिक्त उत्तर भारत में उज्जयिनी, मथुरा, कौशाम्बी आदि भी व्यापार के केन्द्र थे। व्यापारियों को कई नामों से जाना जाता था। यथा-(१) नैगम[४] (२) सार्थवाह (३) वाणिज्य (व्यवसायी)[५] (४) वणिक (व्यापारी) (५) वैदेहक आदि।

व्यापार खूब चलता था। पश्चिम के देशों से समुद्री व्यापार भी होता था। पश्चिम तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह भड़ोच, सोपारा, कल्याण आदि थे जहाँ से जहाज पश्चिमी देशों के लिए रवाना होते थे और बाहर से जहाज आकर उतरते थे। सोपारा जिला नहपान के अधिकार में था और उसका शासक कोई 'संघम' था।[६] इसी काल व्यापार सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी गयी (पेरिप्लस आफ दि राथियन सी) जिसमें वाणिज्य की वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक

१ एपि० इं० ८।४२ आग।
२ कं० हि० इं० २।४१४।
३ इं० कं० १२।८९-९०।
४ एपि० इं० ८।१२।८२ आग।
५ भावनगर अभिलेख, पृ० २१।
६ ई० ए० १९१९ पृष्ठ ८१-८३।
७ वही ८।११ ७ आग।

के आधार पर पश्चिमी देशों को यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया आदि को भारत से हाथी दांत के सामान, रेशमी वस्त्र, मसाले, हीरे जवाहरात जाते थे और वहाँ से सुर-सुन्दरियाँ, तेल-फुलेल और उत्तम किस्म के वस्त्र आते थे।

(४) श्रेणियाँ—मौर्य युग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणियाँ' थी। शिल्पी लोग श्रेणियों में संगठित थे और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिला-लेखों में इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। उनसे उस काल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखों में नासिक का गुहा लेख-विशेष विशेष महत्त्व का है। बयालीसवें वर्ष में वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीय पुत्र उषवदात्त ने यह गुहामंदिर चतुर्दिश संघ को अर्पण किया और उसमें प्रसयर्णावी तीन हजार कार्षापण चतुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में रहने वालों को कपड़े का खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिये होगा और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलियों के निकाय में दो हजार एक की सदी सूद पर, दूसरे कोलिक निकाय के पास, एक हजार, पौन की सदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जायेंगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक की सदी सूद पर दो हजार कार्षापण रखे गये हैं उनसे मेरे गुहामंदिर में रहने वाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जायेंगे और जो पौन की सदी पर एक हजार कार्षापण है, उनसे कुशनमूल का व्यय होगा। कापुर प्रदेश में स्थित चिखलपद्र गाँव से नारियल के ८००० पौधे भी दिये गये। यह सब निगम सभा में सुनाया गया और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।[1]

---

१ एपि इं० ८।८२।८२।

एक ही वस्तु के व्यापारी अथवा जाति के लोग श्रेणियां बनाकर रहते थे। कुम्हार[1], तेली[2], जुलाहे[3] 'नवकर्मिक'[4] लोहार[4] आदि की श्रेणियां थीं।

श्रेणियां बैंक का भी काम करती थीं।[5] इनके पास अक्षयनीवी (मूलधन) रख दिया जाता था। वह कभी क्षय नहीं होता था। उसके ब्याज ही से काम लिया जाता था। ये श्रेणियां जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप से संचालन करती थीं वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रख कर उस पर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और सम्मानास्पद थी कि उनके पास रुपया जमा होता था, जिसे फिर लौटाया नहीं जाता था, जिसका सूद सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता था। यही काम आजकल बड़े रूप में बैंक करते हैं। नगर सभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध, चरित्र की तरह (रजिस्टर्ड[6]) कराया जाता था।

(५) श्रेणियों का संगठन और उनका कार्य—अर्थ संगठन की दृष्टि से श्रेणियों का बहुत महत्त्व था। इसके प्रधान या सभापति को श्रेष्ठिन् कहते थे। मानव धर्मशास्त्र में जाति, जानपद और श्रेणी के नियम या कानून मान्य किये हैं। याज्ञवल्क्य ने ऐसे लोगों को दण्ड देने का विधान भी किया है जो समूह के [illegible]

---

१ सुत्त निपात ११२३।
२ पाणि० ६ ।१।१०।
३ पाणि० ६ ।२।६२।
४ ई० क० ३।४१ ४२८।
५ ए० इ० ११।८६ ८७।
६ वही।
७ जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ ८।४१।

उसके विरुद्ध हो गये थे। यही कारण है कि उसको अपने कोष से धन व्यय कर उस ताल को बनवाना पड़ा।

शककालीन आर्थिक जीवन पर इस प्रकार यदि हम एक सम्यक् दृष्टि डालें तो भारतीय आर्थिक जीवन और शककालीन आर्थिक जीवन में कोई भेद नजर नहीं आयेगा। यदि अन्तर कोई नजर आता है तो वह नामकरण का है जो कि केवल सहूलियत के लिए किया है जिसको हटाया बढ़ाया जा सकता है। ऐसा केवल काल-विभाग को दृष्टि में रखकर किया गया है। 'शककालीन' निकाल देने से यह शुद्ध भारतीय हो जाता है। इस प्रकार 'शककालीन आर्थिक जीवन' में हम भारतीय आर्थिक जीवन को ही परिलक्षित करते हैं। और यह इसीलिए क्योंकि ब्राह्मणों का पुनः सम्पर्क उनको मिला था जिससे उनका पृथक्त्व जाता रहा।



धार्मिक स्थिति

पृष्ठभूमि—पूर्व वैदिक काल का वह धर्म जिसमें मानव अपने इष्ट देव की प्रार्थना और स्तुति करके ही रिझा लेता था कालान्तर में आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड और रूढ़िवादिता के कारण दुरूह हो गया। इस अवस्था में ब्राह्मणों का दबदबा बढ़ा क्योंकि वे ही धर्म के जानकार माने गये। उनका गौरव देवताओं का सा हो गया, वे 'भूदेव' कहे जाने लगे। इन 'भूदेवों' ने यज्ञों की एक शृंखला खड़ी की। परिमाण भी बढ़ गया। इनकी अवधि कुछ दिनों से लेकर वर्षों तक की होने लगी। पुरोहित अपने सहायकों के साथ यज्ञ-मण्डप में विधि-क्रियाओं की देख-रेख करने लगे। होतृ, उद्गातृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन् उनमें मुख्य थे। धर्मभीरु जनता उन पचारियों को क्या समझती जिनमें से एक में भी किंचित्मात्र त्रुटि से उसके लिये अनन्त पारलौकिक दण्ड यन्त्रणाओं का विधान था। इसने जनता को पूर्णतया ब्राह्मणों के हाथ में डाल दिया। उसने अपना पुरुषार्थ, साहस, आत्मविश्वास और स्वविचार खो डाला। वस्तुतः धर्म की आत्मा इनके नीचे दब गयी थी और नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। अतएव ऐसे धर्म के विरोध में एक सीधे-सादे, स्वाभाविक और सरलसुगम धर्म की खोज स्वभावतः चल पड़ी।

उत्तर वैदिक काल के धर्म से प्रतिक्रिया इसी युग में लिखे आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों में शुरू हो गयी थी। उपनिषदों ने यज्ञों के प्रभाव के बदले अनुभव, आत्मज्ञान, ईश्वर के स्थान में अमूर्त और अनिर्वचनीय ब्रह्म और यज्ञों की जगह नैतिक आचरण पर बल दिया। परन्तु उपनिषदों का क्षेत्र दार्शनिक था, जो जनसाधारण के लिए सुगम न थी उनकी नीति समझौते और समन्वय की थी, अतएव

उसके विरुद्ध हो गये थे। यही कारण है कि उसको अपने कोष से धन व्यय कर उस ताल को बनवाना पड़ा।

शककालीन आर्थिक जीवन पर इस प्रकार यदि हम एक सम्यक दृष्टि डालें तो भारतीय आर्थिक जीवन और शककालीन आर्थिक जीवन में कोई भेद नजर नहीं आयेगा। यदि अन्तर कोई नजर आता है तो वह नामकरण का है जो कि केवल सहूलियत के लिए किया है जिसको हटाया बढ़ाया जा सकता है। ऐसा केवल काल-विशेष को दृष्टि में रखकर किया गया है। 'शककालीन' निकाल देने से यह शुद्ध भारतीय हो जाता है। इस प्रकार 'शककालीन आर्थिक जीवन' में हम भारतीय आर्थिक जीवन का ही परिदर्शन करते हैं। और यह इसीलिए क्योंकि भारतीयों का पुनः सम्पर्क उनको मिला था जिससे उनका पृथकत्व जाता रहा।

धार्मिक स्थिति

पृष्ठभूमि—पूर्व वैदिक काल का वह धर्म जिसमें मानव अपने इष्ट देव की भावना और स्तुति करके ही रिझा लेता था कालान्तर में ब्राह्मण कर्मकाण्ड और रूढ़िवादिता के कारण दुरूह हो गया। इस अवस्था में ब्राह्मणों का वर्चस्व बढ़ा क्योंकि वे ही धर्म के जानकार माने गये। उनका गौरव देवताओं का सा हो गया, वे 'भूदेव' कहे जाने लगे। इन 'भूदेवों' ने धर्म को एक शृंखला बाँध दी, परिमाण भी बढ़ गया। इनकी अवधि कुछ दिनों से लेकर वर्षों तक की होने लगी। पुरोहित अपने सहायकों के साथ यज्ञ-मण्डप में विधि-क्रियाओं की देख-रेख करने लगे। होतृ, उद्गातृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन् उनमें मुख्य थे। धर्मभीरु जनता उन पद्धतियों को क्या समझती जिनमें से एक में भी किंचितमात्र त्रुटि से उसके लिए अनंत पारलौकिक दण्ड यन्त्रणाओं का विधान था। उसने अपने को पूर्णतया ब्राह्मणों के हाथ में डाल दिया। उसने अपना पुरुषार्थ, साहस, आत्मविश्वास और व्यक्तित्व खो डाला। वस्तुतः धर्म की आत्मा इसके नीचे दब गयी थी और नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। अतएव ऐसे धर्म के विरोध में एक सीधे-सादे, स्वाभाविक और सर्वसुलभ धर्म की खोज स्वभावतः चल पड़ी।

उत्तर वैदिक काल के धर्म से प्रतिक्रिया उसी युग में लिखे आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों में शुरू हो गयी थी। उपनिषदों ने वेदों के प्रमाण के बदले अनुभव, व्यक्तिगत ईश्वर के स्थान में अमूर्त और अनिर्वचनीय ब्रह्म और यज्ञों की जगह नैतिक आचरण पर बल दिया। परन्तु उपनिषदों की शैली दार्शनिक थी, जो जनसाधारण के लिये सुगम न थी। उनकी नीति समझौते और समन्वय की थी, अतएव

परंपरागत धर्म का जोरदार विरोध नहीं हो सका। किन्तु उपनिषदों के बाहर कई एक सम्प्रदाय हुए जो प्राचीन धर्म के कड़े आलोचक और उग्र तथा क्रान्तिकारी विचारों के प्रवर्तक थे। इनमें सबसे पहले चार्वाकों का उल्लेख किया जा सकता है जो वैदिक प्रमाण और कर्म काण्ड के घोर विरोधी, भौतिक और भोगवादी थे। इसके अतिरिक्त ईश्वर-मोक्ष-माया-संबंधी विभिन्न विचार वाले, नास्तिक, संदेहवादी भौतिक भोगवादी, तपोमार्गी आदि सम्प्रदायों का उदय उत्तर वैदिक काल से प्रारंभ होकर जनपदों के समय तक होता रहा। इन सम्प्रदायों ने बौद्धिक और नैतिक जगत में काफी उथल-पुथल मचाया। इन सब के अंत में ईसा पूर्व छठी शती में दो ऐसे सम्प्रदायों का उदय हुआ जो पहले के सम्प्रदायों से अधिक स्पष्ट, संगठित और स्थायी हुए। ये श्रमण सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों ने जन-बोली में अपने धर्म का प्रचार किया। फलतः लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। परिणाम स्वरूप अधिकाधिक लोग श्रमण-धर्मावलम्बी होन लगे। सम्राटों ने भी इनको प्रश्रय दिया। अशोक क काल में तो बौद्ध धर्म अपने देश की चाहार-दीवारी लांघकर दूसरे देशों में प्रवेश कर गयी किन्तु अशोक मौर्य के उत्तराधिकारी अयोग्य एवं धर्म के नाम पर अस्वा प्यार करने वाले निकले। भिक्षु संघ भी ऐश्वर्यशाली हो गया था। सवत्र विशाल वैभवपूर्ण विहारों की स्थापना हो गयी थी जिनमें बौद्ध भिक्षु बड़े आराम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले, भिक्षु-वृत्ति स दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरं-तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण क मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। वैदिक सम्प्रदाय में इसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गयी थी। इस काल बहुत स धर्म ग्रन्थों का पुनर्निर्माण हुआ। गाथा और नाराशंसियाँ फिर से लिखी गयीं। संस्कृत को पुनरुज्जीवित करने के लिये कात्यायन और पतंजलि प्रभृत

विद्वान पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य लिखे।

किन्तु यवन-शक पह्लवादि आक्रमणों ने उस इतिहास को जो शुंग-काल लिखने जा रहा था मिटा दिया। ब्राह्मणों को उत्तरी भारत छोड़ दक्षिण के सातवाहनों की शरण में जाना पड़ा।

बौद्ध धर्म—वैदिक प्रतिक्रिया के काल में श्रमणों (बौद्धों) को पददलित किया गया।[1] श्रमणों ने जिनमें जाति-पाँति और वर्ण-भेद का विचार नहीं था वैदिक धार्मिकों से बदला लेने की दृष्टि से विदेशियों को 'धर्मभीत'[2] कहकर अपनी ओर मिलाया। विदेशी आक्रमणकारियों ने जिन्हें ब्राह्मण धर्म में कोई स्थान नहीं मिल सका था पहले श्रमण धर्म का ही आश्रय ग्रहण किया। भारत में शकों का पहला शासक बौद्ध ही था।[3] तक्षशिला में 'सोम' के पुत्र बौद्ध थे।

मथुरा के क्षत्रप सर्वास्तिवादी बौद्ध थे।[4] महाक्षत्रप रंजुवुल की अग्रमहिषी ने सर्वास्तिवादियों के लिये स्तूप और संघाराम का निर्माण करवाया था[5]। सर्वास्तिवाद थेरवादी शाखा थी। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इस पंथ का संस्थापक राहुलभद्र था।[6] इसका प्राचीन केन्द्र मथुरा थी। बाद में यह गंधार और कश्मीर भी गया। पूरे उत्तर भारत में इसका काफ़ी प्रचार था और अशोक एवं कनिष्क के कालों में तो इसका और प्रभाव बढ़ा।

---

1 दिव्यावदान, कावेल और नील का संस्करण, पृ० ४३४ १४—यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

2 युगपुराण, धर्मभीत तथा-वृद्धा जनं भोक्ष्यन्ति निर्भया।

3 ज० रा० ए० सो०, १९१४, पृ० ७९१।

4 एपि० इं० ४।५५ (भगवत शकमुनिस शरीरं प्रतिथपेति संघरमं च नवबुधन पुयए)

5 एपि० इं० ९।१४१ (गुह च संघरम च चतु-दिशस संघस सर्वस्ति-वदन परिग्रहे)

6 दि एज आफ़ इंपीरियल यूनिटी, पृ० ३८०।

८

यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि इस काल का बौद्ध धर्म प्राचीन बौद्ध धर्म नहीं रह गया था। ईस्वी पूर्व द्वितीय शती में जो वैदिक पुनर्जागरण (आन्दोलन) हुआ था उसमें वैदिक धर्मों ने बौद्ध और जैन धर्म की बहुत सी अच्छाइयों को आत्मसात कर लिया था। बौद्ध विचारों का प्रभाव इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर भी पड़ा क्योंकि जिस प्रकार बौद्ध, सृष्टि के कर्ता के रूप में, किसी ईश्वर को नहीं मानते, उसी प्रकार अन्य भारतीय दर्शन भी ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं मानते। किन्तु बौद्ध जहाँ ईश्वर की सत्ता को मानते ही नहीं वहाँ अन्य भारतीय दर्शन ईश्वर की सत्ता से पूर्णत मुक्त नहीं हो सके हैं। सांख्य योग तथा मीमांसा ईश्वर-कर्तृत्व में तो विश्वास नहीं करते, परन्तु उसकी सत्ता में विश्वास करते हैं।[1]

धार्मिक क्षेत्र में भी इसी तरह परिवर्तन हुआ। वैदिक धर्म में प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती थी, पर अब उनका स्थान उन महापुरुषों ने ले लिया जिनका कि जन साधारण में अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल में जिस सनातन-वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों में जो स्थान बोधिसत्वों और तीर्थंकरों का था, वही स्थान इस सनातन धर्म में इन महापुरुषों का हुआ। इन धर्मों के अच्छे गुणों को अपना लेने से वैदिक धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। फलत हम कई विदेशियों को वैदिक धर्म में दीक्षित पाते हैं। हेलिओदोर भागवत हो गया था।[2] इस प्रकार बौद्ध अपना प्रभाव खो रहे थे। इसका उन्हें दुःख था। अपनी खोई हुई कीर्ति को पुन प्राप्त करने के लिये वे विचार विमर्श

१ न्या० सू० ४।१।२ ।

२. डी० सी० सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, १।९०-९१ ।

करने लग गये थे। सर्वास्तिवादियों (थेरवादियों) को अपने विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। सर्वास्तिवादी अधिकतर शुष्क-सिद्धान्तपरक थे। "तर्क और दर्शन जन-विश्वास से दूर होता है। जनता अपने उपास्य के व्यक्तित्व का अवलोकन साकार रूप में करना ज्यादा पसन्द करती है। इस तथ्य को सर्वास्तिवादियों ने समझा।[1] परिणामस्वरूप बुद्ध की अनेकानेक उपास्य मूर्तियाँ कोरी जाने लगीं।

भिक्षु संघ में यह मतभेद बुद्ध की मृत्यु के कुछ ही कालान्तर बाद आरंभ हो गया था। यह भिक्षु संघ जिसकी स्थापना बुद्ध ने एक संगठन के रूप में की थी अशोक के काल तक आते आते १८ भागों में बँट गया। इनमें दो दल थे—महासांघिक और थेरवादी। थेरवादी पाठेय्यक कहे गये और महासांघिक प्राचीनक।[2] द्वितीय महासंगीति में प्राचीनक भिक्षु अधर्मवादी और पाठेय्यक धर्मवादी निश्चित किये गये। भिक्षु अब संघ के बाहर भी रह सकते थे। तृतीय बौद्ध संगीति में इस अनुशासनहीनता पर रोक लगाया गया। राजा अशोक स्वयं थेरवादी (पाठेय्यक) विचारों का था। स्वयं उसने अपने शिलालेख में घोषणा किया कि जो भिक्षु और भिक्षुणि संघ के नियमों का पालन नहीं करेंगे, उनको भिक्षु संघ से निष्कासित कर दिया जायगा।[3]

---

१ महायान का जन्म होने पर सर्वास्तिवादियों को ही हीनयानी कहा जाने लगा था। बाद में सर्वास्तिवादी महायानी हो जाते हैं। चतुर्थ महासंगीति के बहुत से आचार्य पहले सर्वास्तिवादी थे, बाद में महायानी हो गये। वसुबंधु पहले सर्वास्तिवादी थे बाद में महायानी हुए। अश्वघोष और असंग भी पहले सर्वास्तिवादी थे।

२ भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५४६।

३ ए चुना भिखु वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनंधापयिया आनावासासि आवासयिये। देखिये, सारनाथ स्तंभ लेख।

किन्तु यह मतभेद बढ़ता ही गया। एक ही संघाराम में कई मतावलम्बी रहते थे जो भिन्न-भिन्न नियमों का पालन करते थे। हीनयानियों और सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में जो अनुचित था वह महायानियों और महासांघिकों की दृष्टि में उचित था। यथा हीनयानी दोपहर के बाद के भोजन को पसन्द नहीं करते सोना-माला-फूल का अपने लिये उपयोग वे वर्ज्य समझते थे, परन्तु महासांघिक इसको उचित समझते थे। इस प्रकार एक ही संघ में कई मतावलम्बी रहते थे और यदि कोई भिक्षु संघ को दान करना चाहता था तो वह जिस मतावलम्बी को दान देना चाहता उसका नाम भी उल्लेख करता था। इसके कतिपय उदाहरण शक अभिलेखों में मिलते हैं। शक रंजुबुल की अग्रमहिषी ने एक स्तूप और संघाराम को सर्वास्तिवादियों को दान में दिया था[1]।

ब्राह्मण धर्म के भक्तिवाद का स्पष्ट प्रभाव इस काल में दृष्टिगोचर होता है। हीनयान जो कि ज्ञानप्रधान मार्ग था उसके स्थान पर महायान (भक्तिमार्ग) का प्रादुर्भाव हुआ। साधारण जनता के मस्तिष्क में भक्ति पहले ज्ञान बाद में प्रवेश करती है। बौद्ध मूर्तियों के अभ्युदय का रहस्य इसी भक्तिवाद के प्रचुर प्रचार में अंतर्हित है।

प्रश्न हो सकता है कि बुद्ध-प्रतिमा को पत्थर पर क्यों कोरा गया जब कि बुद्ध ने अपनी मूर्ति-पूजे जाने का विरोध किया था। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि इस काल तक बौद्ध भिक्षुओं में बहुत परिवर्तन हो चला था—वे अब श्रमण नहीं रहे थे। अब वे मठों और विहारों ही में रहते घूम-घूमकर सेवा करने की भावना उनसे दूर होने लगी थी—वे विलासी हो चले थे। ब्राह्मणों को अवसर मिला। उन्होंने एक आन्दोलन किया। जिसमें भिक्षु-जीवन के विरुद्ध भावना को उभाड़ा गया।

---

१ एपि० इं० ८। १४१।

आश्रम व्यवस्था प्राचीन आर्यों के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी, परन्तु जैन और बौद्ध संप्रदायों के प्रादुर्भाव से यह व्यवस्था विशृंखलित हो गयी—युवा, वृद्ध ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब प्रकार के लोग भिक्षु बनने लगे थे। इन्हें अपनी आजीविका के लिए स्वयं परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी, क्योंकि धनी और राजा लोग इनके पालन पोषण के लिये धन को पानी की तरह बहाते थे। इसका इसी से पता चल जाता है कि अशोक के आज्ञा देने पर भी उसके मंत्रियों ने बौद्ध भिक्षुओं को और अधिक दान देना अस्वीकृत कर दिया था।[1] फलतः भिक्षु विलासी होने लगे। वैदिक धर्मावलम्बी ऐसे अवसर की तलाश में थे ही। उन्होंने गृहस्थाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया। गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में ऊँचा है, इसीसे सब आश्रमों का पालन होता है, इस विचार पर बल दिया जाने लगा था। मनु ने कहा है, जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जन्तु जीते हैं, उस प्रकार गृहस्थ का आश्रय पाकर सब आश्रमों का गुजारा चलता है।[2] मनु के अनुसार एक आश्रम से क्रमशः दूसरे आश्रम में प्रवेश

---

१ दिव्यावदान, पृ० ४३० और आगे। सम्राट अपनी भूमि अथवा राष्ट्र को छोड़कर बाकी सब कुछ दे दिया करता था। प्रधान उसके कोष में ऊपर से जमा हुआ और निकला धन होता था वह सब दान दे दिया करता था। इस प्रकार के किसी विशिष्ट दान का मंत्री लोग विरोध नहीं करते थे, क्योंकि ऐसा दान करने का सम्राट को अधिकार था। परन्तु यदि वह फिर इसी प्रकार कोई और दान करना चाहता था, तो मंत्री लोग उसका विरोध करते थे; और ऐसा ही करना अशोक के मंत्रियों ने अपना कर्तव्य समझा था।

—हिन्दू राजतंत्र १।२।१२ नोट।

२. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ मनु० ३।७७।

कर, यथासमय होम-हवनादि अनुष्ठानों को सम्पादित कर पुत्र मित्र निश्चय होने के बाद परिव्राजक होना चाहिए। इस काल में तीन ऋणों की भी कल्पना की गयी।[1] जब तक इन ऋणों से परित्राण नहीं हो जाता, व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया। लोगों का ध्यान भी इधर आकृष्ट हुआ। परिणामस्वरूप हीनयानियों के अर्हत और प्रत्येक बुद्धों का महत्त्व घटने लगा।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अनाश्रय धर्म के प्रवर्तकों को अवतार का रूप दिया और उनके धर्म को आत्मसात करना शुरू किया।[2]

ब्राह्मणों के इस सतत प्रहार से हीनयानियों के अर्हत और बुद्धों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। कुण्ठित हो चले बौद्धों के लिये यह चुनौती थी। अतएव इन एकान्तवासी देवताओं के स्थान को महायान के बोधिसत्वों ने ग्रहण किया जिनका जीवन ही परोपकार, प्राणियों के दुःखोपशमन की वेदी पर अर्पित रहता था[3], जिनकी पूजा अर्चना कर गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर सकता था। इस काल में बौद्ध-देवमण्डल की भी रचना हुई। उनके देवमण्डल में बुद्ध तथा अनेक बोधिसत्वों ने स्थान ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त जितने विदेशी थे उनके देवी देवता भी बौद्ध हो गए और उन लोगों ने भी बौद्ध-देवमण्डल की रचना की।[4] कालान्तर में इसमें भी कर्मकाण्ड का विधान हुआ।

---

१ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ मनु ६।३५।

२ देखिये, वराह पुराण ४।२।

३ डी॰ मुकर्जी, ग्राउंड लाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ॰ ६२ ६५।

४ भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ॰ ५७६।

"पल्लव, शक, कुषाण, ग्रीक, पार्थियन और सीथियन आदि जातियों के कुछ देवताओं को बोधिसत्व का रूप दे दिया गया है।"

इस प्रकार वह बौद्ध धर्म जो कि ज्ञानप्रधान था और ब्राह्मणों की विलासिता और कर्मकाण्ड का खण्डन करके प्रकाश में आया था कालान्तर में वह भी उसीका शिकार हुआ।[1] वह भी विलासी हो गये थे। ब्राह्मणों के आघात से उनको अपना पुराना चोला छोड़ना पड़ा—ज्ञान की जगह भक्ति का समावेश किया। उनको महायान के रूप में प्रकट होना पड़ा—ब्राह्मण धर्म के अनुरूप बनना पड़ा। यही कारण है कि इस काल में बोधिसत्वों की अनेकानेक *मूर्तियाँ* कोरी गयी।

जैन धर्म—बौद्धों की भांति जैनियों का भी इस काल में प्रचार एवं प्रसार हुआ। मथुरा में जैनों के बहुत से अभिलेख एवं आयागपट्ट मिले हैं। वहाँ पाये गये १९२ अभिलेखों की, लूडर की, सूची में ८४ केवल जैन हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मथुरा में बौद्धों की अपेक्षा जैनियों का अधिक प्रभाव था क्योंकि बौद्धों के यहाँ लूडर की सूची के अनुसार केवल ११ अभिलेख मिले हैं। इसकी पुष्टि कनिंघम के उस कथन से भी हो जाती है जिसमें उसने अपवाद मथुरा में बौद्ध स्तूपों का होना बतलाया है।[2]

मथुरा की भांति उज्जयिनी भी जैनों का केन्द्र था। यदि अशोक के पौत्र सम्प्रति की कथा में विश्वास किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसने जैन धर्म के प्रचार के लिये मिशनरियाँ भी भेजीं।[3] दक्षिण के प्रदेशों में उसने इन मिशनरियों के द्वारा ही धर्म का प्रचार किया। उज्जयिनी और मथुरा में जैन धर्म करीब ईसवी पूर्व द्वितीय शती में

---

१ सुबन्धु के वासवदत्ता का हाल द्वारा संस्करण, पृ० २८७।
कतिपयबौद्धविध्वस्त इव वसितभूषितपक्षमलनीभपत्र।

२ ई० ए० १९०२ पृ० ३८८।

३ दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४१६।

ही पहुँच गया था। पहली शती ईसवी पूर्व में भी जैन धर्म मालवा में फल-फूल रहा था। इसका पता 'कालकाचार्य कथानक' से चलता है। इस कथा के अनुसार कालकाचार्य और उसकी बहन सरस्वती दोनों जैन भिक्षु और भिक्षुणी थे। सरस्वती बड़ी रूपवती थी। उज्जयिनी का राजा उसके रूप पर मुग्ध था। उसने उसको बलात् उठवा लिया। लोगों ने भिक्षुणी को छोड़ देने के लिये समझाया किन्तु विलासी राजा ने सुना-अनसुना कर दिया। जनता ऐसे राजा से कुपित थी, अतएव उसने शकों को (धर्ममीत) कहकर आमंत्रित किया। शकों ने गर्दभिल्ल का नाशकर सुव्यवस्था को पुनस्थापित किया।[1]

बाद में वे शक उज्जयिनी से मालवों द्वारा निकाल बाहर किये गये। संभवत इस काल में जैनियों की वही दशा हुई हो जैसे शुंगों के काल में बौद्धों की हुई थी। उज्जयिनी में जैनों को हम पुन चष्टन संघ के स्थापित हो जाने पर पाते हैं। जयदामन के पौत्र (दामजद अथवा रुद्रसिंह प्रथम) का जूनागढ़ अभिलेख[2] एक 'केवली ज्ञान प्राप्त व्यक्ति' का उल्लेख करता है जो कि जरामरण से मुक्त हो गया है। यह लेख एक गुहा में पाया गया जो कि जैन भिक्षुओं के प्रयोग में आता था जैसा कि उसमें पाये गए विभिन्न चिन्हों से मालूम होता है। जैसे स्वास्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि।[3]

बौद्धों में बोधिसत्वों की भाँति इनमें भी तीर्थंकरों की पूजा होती थी। शक काल की इनकी कितनी ही मूर्तियाँ और आयागपट्ट पाये गए हैं। मूर्ति-पूजा का प्रचलन इनमें पहले ही से था। इसका एक प्राचीन उदाहरण नन्द-काल में मिलता है जब नन्द राजा कलिंग से

---

१ देखिये स्टोरी आफ कालक नामन ब्राउन।

२ एपि० इ० १६।२४१।

तथा पुरस्थिर केवलि ज्ञान संप्राप्ताना—जरामरण।

३ दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० ४१६।

जैन-मूर्ति को उठा लाया था जिसको बाद में कलिंग नृपति खारवेल पाटलिपुत्र से उठवा ले गया ।[1]

भक्ति आन्दोलन—इस काल की महती देन भक्ति आन्दोलन थी जिसने वैदिक और अवैदिक दोनों धर्मों को आन्दोलित किया । जन विश्वास धर्म और दर्शन से दूर होता है । वह अपने देवता के प्रति श्रद्धा भक्ति का पूरा आचरण करना चाहता है । पूर्व वैदिक काल में वह अपनी भक्ति और श्रद्धा को देवता की स्तुति और प्रार्थना कर प्रदर्शित करता था । यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही । उत्तर वैदिक काल के कर्मकाण्डों ने उसको स्तुति और प्रार्थना करने का अवसर ही नहीं दिया । इस कर्मकाण्ड के बोझ से लोगों का आत्मविश्वास जाता रहा और उनके आत्मस्वातन्त्र्य की भावना दबने लगा । ईश्वर के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों से लोगों को धीरे-धीरे घृणा होने लगी । परिणाम-स्वरूप छठी शता ईस्वी पूर्व में अवैदिक आन्दोलन हुए । इन आन्दोलन में ब्राह्मण कर्मकाण्ड के साथ-साथ उनका ईश्वरवाद भी उखड़ गया । ईश्वर की सत्ता अमान्य की गयी । सृष्टि कर्ता के रूप में इन्होंने ईश्वर को नहीं माना । फिर उसकी पूजा-अर्चना से क्या लाभ ! इस संबंध में जैन शास्त्रकारों का कहना है कि ईश्वर की उपासना ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये नहीं की जाती अपितु हृदय की, अपने चित्त की शुद्धि के लिए की जाती है । सभी दुःखों के उत्पादक राग द्वेष-को दूर करने के लिए राग द्वेष रहित परमात्मा का अवलम्बन लेना परम उपयोगी एवं आवश्यक है ।[2]

अवैदिकों के इस आन्दोलन ने वैदिकों (ब्राह्मणों) को आन्दोलित कर दिया । उनमें जो पहले से जागरूक न थे वे अब सतर्क हो गए और 'अपौरुषेय' की स्थापना की चिन्ता में लग गए । उन्होंने इस की स्थापना के लिए सामंजस्यवादी नीति का ग्रहण किया । उन्होंने

---

1 वही, पृ० ४२६ ।

2 जैन दर्शन, न्या० न्या० मुनि न्यायविजयजी, पृ० ५४ ।

अवतारों की कल्पना की जिसमें सभी अवैदिक धर्मों को आत्मसात कर लिया और उनके प्रवर्तकों को विष्णु का अवतारी रूप बतलाया[1] एवं भक्ति और उपासनामार्ग का प्रचार किया। उनके अनुसार भक्ति ही इस दुःखमय संसार से जीव को मुक्त कराने का एकमात्र साधन है। भक्तवत्सल भगवान की अनुग्रह शक्ति ही जीवों को भवपंक से उद्धार कर सकती है। भगवान से निश्चल रूप से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं अपराधों का आलय हूँ अकिंचन हूँ तथा निराश्रय हूँ। हे भगवान आप ही मुझे उद्धार करने के लिये उपाय बनिये। इस प्रकार वह ईश्वर का शरणागत होता है।[2] यह भक्ति भावना की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ की जा सकती है।

ईश्वर के शासन में सब बराबर होते हैं, भेदाभेद का प्रश्न वहाँ नहीं रहता। ईश्वर की शरण में जो आयेगा त्राण पायेगा। इस प्रकार की भावना का प्रचार कर और चूंकि अवैदिक धर्मों में विदेशियों को शरण मिली थी और वह विदेशियों का काल था, जो देश में बसते जा रहे थे, ब्राह्मण धर्म में इस प्रकार की व्यवस्था करना अनिवार्य हो गया था। इस प्रकार इस भक्ति आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य विदेशियों को धर्म में दीक्षित कर उनमें अहिंसा का प्रचार करना था।

बौद्ध धर्म में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। जब साधारण हिन्दू जनता बौद्ध धर्म में दीक्षित हुई तो भक्ति मार्ग से परचे होने के कारण

---

१ मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश। वराहपुराण ४।१।

२ अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना-मतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥ अहि० सं० ३७।३१।

उस एक बड़ी कमी का बोध हुआ। ब्राह्मणों ने इनके प्रवर्तकों का पूजना भी प्रारंभ कर दिया था जिससे उनकी प्रसिद्धि को धक्का लगा था। अतएव महायान, हिन्दुओं के भक्तिमार्ग से अनुप्राणित, इसका परिणाम हुआ।

भागवत धर्म—मोरा कूप लेख से विदित होता है कि शक-क्षत्रप भागवत धर्मावलम्बी भी थे। मोरा गाँव मथुरा से सात मील की दूरी पर स्थित है। लेख इस प्रकार है—

महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र स्वामि....भगवत वृष्णि पंचवीरों की प्रतिमा शिला पर खोदी गया...जो कि तोषा का भव्य अद्वितीय शिला गृह है...पूजा के योग्य प्रकाश था कि चमकदार पत्थर के बने थे, यह ही सुन्दर ।[1]

डा० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने वायुपुराण के आधार पर इन पंचवीरों को संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न साम्ब और अनिरुद्ध बतलाया है।[2] यह पंचरात्र अनुश्रुति के बहुत समीप है। और मथुरा, यह तो भागवत धर्मावलम्बियों का प्राचीन गढ़ ही था। कृष्ण के जीवन का अधिकांश भाग मथुरा ही में व्यतीत हुआ था।

शकों के भागवत धर्मावलम्बी होने का एक दूसरा प्रमाण भी मिलता है। मथुरा में जब शक क्षत्रपों का शासन था, तब वैष्णव धर्म का इस प्रदेश में विशेष अभ्युत्थान हुआ। शोडास के सम

---

१ महाक्षत्रपस्य राजुवुलस्य पुत्रस्य स्वामि....
भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमा: शैलदेवगृ....
यस्तोपाया: शैलं श्रीमद्गृह मतुलम उद्भमधार....
अर्चादेशो शैलां पंच ज्वलत इव परम वपुषा....

२ ज० ई० सो० ओ० आर्ट, १९४२ पृ० ६५ ६८; इ० हि० क्वा० १९४८, पृ० ८२ इ०।

कालीन एक लेख[1] से ज्ञात होता है कि वसु नामक व्यक्ति ने महा-स्थान में भगवान वासुदेव का एक चतुःशाला मंदिर, तोरण तथा वेदिका (चौकी) की स्थापना की थी। मथुरा में कृष्ण-मंदिर के निर्माण का यह पहला पुरातात्त्विक प्रमाण है।

अब प्रश्न भागवत धर्म के अभ्युदय का उठता है। इसका उत्तर मार्शल साहब ने दिया है[2]—कृष्ण संभवतः मथुरा और अब्राह्मण जाति के नेता थे जो बुद्ध के बहुत काल पहले हुए थे। वह अपनी जाति के नेता थे इसलिए नहीं कि वीर थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने एक नये धर्म की स्थापना की थी—ऐसे धर्म की जिसका वैदिक अनुभूति और एकेश्वरवाद से कोई मेल न था जिसमें मुख्यतया नैतिक उत्थान पर बल दिया जाता था। इस धर्म के अनुयायियों को भागवत कहा गया है। बाद में इसने अन्य नाम भी ग्रहण किये। कृष्ण अपनी जाति में धर्म-नेता से देवता का रूप धारण करने लगे। ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने तब इस धर्म को जो कि नैतिक उत्थान पर बल देता था अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया और कृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया। इस प्रकार ब्राह्मणों ने भागवत धर्म को आत्मसात कर लिया..

श्री रामप्रसाद चन्दा ने इस विद्वान लेखक के कुछ बातों से असहमति जतायी है। वे पूरे भागवत धर्म का ब्राह्मण धर्म में आत्मसातीकरण नहीं मानते।[3] भागवत धर्म की एक शाखा 'पांचरात्र' अब भी अवैदिक थी। अवैदिक अथवा अब्राह्मण 'पांचरात्र' के देवता—संकर्षण वासुदेव, प्रद्युम्न साम्ब और अनिरुद्ध अब भी वस्तुओं द्वारा पूजे जाते हैं। इसका मोरा-कूप-लेख प्रमाणित

१ वसुना भगवतो वासुदेवस्य महास्थान....चतुःशालं तोरणं वेदिकाः प्रतिष्ठापितो प्रीतोभवतु वासुदेवः स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोडा-सस्य संवर्तयताम्।

२ इनसाइक्लोपीडिया रिलिजन एण्ड इथिक्स, २। ५४५ ५४६

३ दि [illegible] मेमायर्स, ५ । ४ ।

करता है।[1]

पांचरात्र मत का विशिष्ट निरूपण महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान (३३४ अध्याय—३५१ अध्याय) में किया गया है। इस संप्रदाय के प्रधान उपास्य देव वासुदेव हैं। वे ही षड्गुणों से विशिष्ट होने के कारण 'भगवान्' शब्द से अभिहित किये जाते हैं।

शिवोपासना—शिवोपासना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इसका प्रारंभ वेदों से है और उसी समय से धीरे-धीरे इसका विकास होता आया है। ऋग्वेद में शिव 'रुद्र' थे। उनकी कल्पना प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण से की गयी थी। ऋग्वेद के सूक्तों में रुद्र का जो स्वरूप हमें दिखायी पड़ता है उसके कितने पहलू हैं और वे किसके प्रतीक हैं इस विषय को लेकर बहुत से अनुमान लगाये गये हैं। कोई उसे झंझावात का प्रतीक तो कोई विनाशकारी शक्ति का प्रतीक समझता है। अपने इस भयकारी स्वरूप के कारण रुद्र अथर्ववेद में 'महादेव' हो गये, वह पृथ्वी अंतरिक्षादि में व्यापक बतलाये गये, आकाश-पृथ्वी के ईश समझे गये, भव में सर्वद्रष्टा सर्वव्यापक एवं नायक की भावना की गयी और अग्नि को भी आयमान, वरुण, रुद्र और महादेव नाम देकर उसके गुणों का संबंध रुद्र से दिखलाया गया।[2]

रुचि के शृंगारमय प्रिय पदार्थों की ओर सहज व स्वाभाविक होने के कारण लोग रुद्र की भयानकता से डरते थे और विष्णु की उपासना को प्रिय समझते थे। इस भावना को दबाने के लिए शैवों द्वारा अथर्वशिरसोपनिषद् प्रस्तुत हुई, उसमें रुद्र को घोषित करना पड़ा—"मैं ही प्रथम हूँ, मैं ही सबमें हूँ।" रुद्र-भक्तों ने भी व्यक्त किया, "जो रुद्र है वही भगवान् है, ब्रह्म है, महादेव है।"[3]

---

१ म० आर्के० सर्वे १, २। ११५-१६।
२ अथर्ववेद ६। ७। ७; ११। २। १; ११। २। २७; ११। २। २४।
३ अथर्वशिर उपनिषद् १ से ४।

उस काल के सिक्कों का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि उस काल में शिव की अनेकानेक मूर्तियों को ढाला गया। तत्कालीन शक नृपतियों के सिक्कों पर शिव-पार्वती एवं अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पाई गयी हैं।[१] इसके अतिरिक्त शक राजाओं का नाम करण भी कुछ ऐसा हुआ है जिससे उनके शिवभक्त होने में संदेह ही नहीं रह जाता। रुद्रदामन रुद्रसिंह आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं।

सूर्यपूजा—प्रकृति के देवताओं को आर्यों की भाँति अन्य जातियों ने भी पूजा। भारत में विष्णु अथवा आकाश के प्रकृत सूर्य की पूजा तो निःसन्देह आर्यों ने प्रचलित की किन्तु उसे मूर्ति बनाकर शकों और कुषाणों ने ही सर्वप्रथम पूजा। इस संबंध में साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनों प्रमाण उपलब्ध हैं। कुषाणकालीन सूर्य की मूर्तियों (उस युग से पूर्व की सूर्य-प्रतिमाएँ भारत में नहीं मिलतीं) का पह नावा सरपरियाई है—चोगा, शलवार, ऊँचे घुटनों तक बूट, बगल में कटार। स्पष्ट है कि भारत में सूर्य की मूर्ति-रूप में पूजा शकों ने चलाई और जब यहाँ के ब्राह्मण उनकी पूजा न करा सके तो शक पुरोहितों को भारत में बुलाना पड़ा। पुराणों[२] के अनुसार कृष्णवंशी शाम्ब ने सूर्य का पहिला मंदिर सिंध में बनवाया और उसके लिये उसने शकद्वीप से पूजा के लिए 'मग' नामक ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। शक ब्राह्मण ही संभवतः सूर्य-पूजा का विधान करते थे। एक बरवार्क लेख से विदित होता है कि मगधराज बालादित्यदेव ने सूर्य मित्र नामक 'भोजक' ब्राह्मण को सूर्य की पूजा के निमित्त एक गाँव दिया था। बाद में यह राजा अवंतिवर्मन द्वारा भोजक सूर्यमित्र को दान कर दिया गया।

ये शक-नृपति सूर्य-पूजक थे, यह उनके लेख से स्पष्ट है। उन्होंने ऐसे नाम धारण किये थे जो उस देवता के नाम होते थे। प्रमाण

१ पं० म्यू० कै० १ । २६ ।

२ भविष्य, शांब, वराह आदि ।

स्वरूप स्वामि जीवदामन का कानमेरा[1] लेख लिया जा सकता है, जिस पर निम्न लेख है—सिद्धं ॥ भगवतस्मिवदा गया-सेनापतरचित-सेनस्य स्वामि महासेन महातेज .. मार्शिस्यवीर्य्ये जीवदाम

मार्शिस्य नृप का नाम है। इस प्रकार इस लेख का अर्थ हुआ—सिद्ध। भगवान स्वर्ग के सेनापति, अजय सेनावाले, स्वामि महासेन के समान महत् तेजवाले सूर्य-तुल्य पराक्रम वाले जीवदाम (का)।

कार्तिकेय पूजा—कार्तिकेय के पिता शिव अथवा अग्नि थे माता उमा, गंगा, स्वाहा आदि बतलाई गई हैं। कार्तिकेय देवताओं के सेनापति थे। इसीलिए महासेन भी कहे गये। कार्तिकेय की पूजा गुप्त काल तक बहुत लोकप्रिय हो गई थी। जीवदामन कार्तिकेय भक्त था यह उसके लेख से स्पष्ट है।[2]

यद्यपि यह वैदिक प्रतिक्रिया का काल था जिसमें कर्मकाण्डों का विरोध भी हुआ किन्तु सभी कर्मकाण्डों पर रोक लगा दिया गया ऐसी बात न थी। यज्ञ और दान धर्म भी होते थे। दान कलियुग में धार्मिक जीवन का मुख्य पहलू था।[3] गृहस्थाश्रम पर इस काल बहुत बल भी दिया गया था जिनके दान पर ब्रह्मचारियों की शुश्रूषा होती थी।[4]

किन स्थानों पर दान करना चाहिए और कहाँ दान करने पर कितना पुण्य होता है इस पर भी इस काल विचार किया गया। धर्म शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि पर .. किये गये दान से दस

---

१ एपि० इं० १६। २३२।

२. एपि० इं० १६।२३२।

३ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ मनु० १।८६।

४ दानमेव गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्।
हेमाद्रि (दान पृ० ५)

गुना फल मिलता है गोष्ठियों में दान करने पर शताधिक पुण्य-प्राप्ति होती है और पुण्य तीर्थों पर दान करने से सहस्र गुना फल की प्राप्ति होती है। उससे भी अधिक पुण्य की प्राप्ति तब होती है जब व्यक्ति शिव प्रतिमा के निकट कोई दान करता है।[1] उन तीर्थस्थलों का भी वर्णन किया गया है जहाँ पर दान करने से अधिक पुण्य की प्राप्ति होती है।[2]

पुण्यतीर्थ के रूप में प्रभास का उल्लेख शक अभिलेखों में हुआ है।[3] तीर्थ के रूप में महाभारत में भी इस उल्लेख आया है। 'उदधौ तीर्थम्' के रूप में इसका उल्लेख हुआ है।[4] नहपान के जामाता उषवदात ने उस पुण्यस्थली पर ब्राह्मणों को तीन लाख गौयें और १६ गाँव दान में दिये एवं एक लाख ब्राह्मणों को प्रत्येक वर्ष भोजन कराया और आठ ब्राह्मणों का विवाह अपने खर्च से करवाया।[5] महाभारत

---

१ यद्दे दशगुणं दानं गोष्ठे चैव शताधिकम्।
पुण्यतीर्थेषु सहस्रमनन्तं शिवसन्निधौ॥ दानमयूख पृ० ८।

२ वाराणसी कुरुक्षेत्र प्रयाग पुष्कराणि च। गंगासमुद्रतीरं च नैमिषामरकण्टकम् श्रीपर्वतमहाकालं गोकर्ण वेदपर्वतम्। इत्याद्याः कीर्तिता देशा सुरसिद्धनिषेविता। सर्वे शैलाश्च सर्वाः पुण्या नद्यः ससागराः। गोसिद्धमुनिवासाश्च देशा पुण्याः प्रकीर्तिता एषु तीर्थेषु यद्दत्तं फलस्यानन्त्यमश्नुते।

—हेमाद्रि (दान० पृ० ८१)

३ एपि इं० ७।११।५७ ; ८।१ ।७८ ।

४ सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च।
—प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर॥
तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम्।

एपि० इं० ८।१०।७८।   —ई० ए० १८९५ पृ० ११

वनपर्व में इस प्रकार का विवाह कराने के महत्व को बतलाया गया है। उसके अनुसार जो कन्याओं को ब्राह्मणों की भार्या के रूप में देता है वह भूमि को इन्द्र के समान भोगता है।[1]

इस प्रकार यदि हम इस काल की धार्मिक-स्थिति का उपसंहारात्मक संक्षेप करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते कि यह काल धार्मिक समन्वयवाद का था जिसमें वैदिक और अवैदिक धर्मों का सम्मिश्रण हुआ तथा दान के महत्व को बताया गया।



[1] यो ब्राह्मणेभ्यो तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
यथार्थं दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य॥
वनपर्व १९८।१५।

भाषा और साहित्य

शकों के अभिलेखों की भाषा और साहित्य का विस्तार युक्त व्यापक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साहित्य की दृष्टि से तो किसी विदेशी जाति का साहित्य भारतीय सीमाओं में विशेष खास अथवा महत्त्व का नहीं है। इण्डो-ग्रीक पह्लव, कुषाण और शक चारों जातियों के अभिलेख कम या अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं जिनसे तत्कालीन प्राकृत और संस्कृत भाषा के क्रियाकलाप अथवा विन्यास पर प्रकाश पड़ता है। अधिकतर वह पहले दोनों राजकुलों के संबंध में अत्यन्त सीमित हैं। इण्डो-ग्रीक राजाओं में तो अभिलेख रूप में उल्लेखनीय साहित्य मिलता ही नहीं जो कुछ उनके संबंध का उपलब्ध है प्रायः सारा सिक्कों पर ही है। सिक्कों का निर्माण, धातु की शुद्धता और देवताओं में विश्वास विशेषकर कुषाणों के सिक्कों पर उत्कीर्ण मध्यएशियाई धर्मों को व्यक्त करने वाले आलेख संस्कृति पर कुछ प्रकाश डालते हैं, पर उनसे इण्डो-ग्रीक सिक्कों के द्विभाषी आलेखों के बावजूद उनका साहित्य की दिशा में विशेष संबंध नहीं है। ऐसा समझा जाता है कि भारतीय भाषा में कुछ शब्द वे छोड़ गए, जैसे—मेला, कलमी पुस्तक, लालिन सुरंगा आदि।[1] पर इनकी संख्या न्यून है।

कुषाणों के अभिलेख से भी भाषा अथवा साहित्य का विशेष निर्देश नहीं होता क्योंकि पहले तो लेखों की सीमाएँ बड़ी संकुचित हैं, अधिकतर वे पूजनीय मूर्तियों पर लिखी दान संबंधी हैं, और जो हैं भी उन्हें जन-बोली या द हम कह लें, पर उनको न शुद्ध संस्कृत कह सकते हैं न प्राकृत, साहित्य तो वे हैं ही नहीं। संस्कृत और प्राकृत

---

1 ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया, पृ १०१-७।

दोनों ही उनकी विकृति हैं।

यही बात शकों के संबंध में निःसंदेह नहीं कही जा सकती। यह सही है कि उनके भी अनेक फुटकल लेख भाषा की दृष्टि से सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, पर कम से कम महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम का लेख अत्यन्त महत्त्व का है, भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से।

शक जब तक भारत के *पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश* में रहे तब तक वहीं की भाषा लिपि का सहारा लिया। भाषा तो उनकी प्राकृत रही पर लिपि खरोष्ठी थी। जैसे-जैसे वे मध्यदेश की ओर बढ़ते गए (भारतीय हृदय के निकट पहुँचते गए) उनकी भाषा और लिपि में भी परिवर्तन होता गया। मथुरा आते-आते उनकी लिपि में परिवर्तन हो जाता है। मथुरा का सिंह शीर्ष लेख इसका अपवाद है। उनकी प्राकृत भाषा अधिकाधिक संस्कृत मिश्रित होने लगी तथा लिपि भी ब्राह्मी हो गयी। महाराष्ट्र एवं उज्जयिनी के शकों के काल में काफी परिवर्तन हुआ। यह अब प्राकृत न रहकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत का रूप धारण कर लेती है। संस्कृत के प्रति उनकी यह निष्ठा इतनी बलवती हुई है कि रुद्रदामन का जूनागढ़ लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में लिखा गया।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समसामयिक प्रवृत्ति को भी जान लेना चाहिए। यदि उस काल की भाषा और साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो समसामयिक प्रवृत्ति को जाना जा सकता है। उस काल में भाषा दो तरह की थी—साहित्यिक और बोलचाल की। साहित्यिक भाषा सुगठित होती थी। बोलचाल की भाषा प्राकृत थी, टूटी फूटी होती थी। इसको सर्वप्रथम लिपिबद्ध पाँचवीं छठी ईसवी पूर्व में किया गया[1]। इसका मुख्य कारण अवैदिक धर्मों का वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। वैदिक धर्म की भाषा संस्कृत थी, जो

१ ज० रा० ए० सो० १८६८ पृ० १८७।

जन भाषा नहीं थी, पर इन नए सुधारवादों को भाषा प्राकृत थी, जो जन-भाषा थी। इन्होंने इसको न केवल प्रचार का साधन ही बनाया बल्कि अपने साहित्य का सृजन भी उसमें किया। फलस्वरूप, धर्म प्रचार के साथ-साथ 'प्राकृत' का भी प्रचार हुआ। वह इतना लोकप्रिय था कि अशोक के काल में यह 'राज्यभाषा' हो गयी। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि संस्कृत का सर्वथा लोप हो गया। संस्कृत थी। उस काल के कई ग्रन्थ संस्कृत ही में लिखे गए। कौटिल्य का अर्थशास्त्र शुद्ध संस्कृत में है। रामायण और महाभारत के कुछ भाग इसी काल में संपादित हुए।[१] पतंजलि का महाभाष्य इसी काल में लिखा गया। ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति को मानने वाले संस्कृत का ही प्रयोग करते थे। शुंग-काल में संस्कृत को राज्य भाषा के रूप में पुनः प्रतिस्थापित किया गया। परंतु उसके बाद विदेशियों ने, जिनको कि चातुर्वर्ण्य (वैदिक धर्म) में कोई स्थान नहीं मिल सकता था, प्राकृत का ही प्रयोग किया। इस प्रकार विदेशी आक्रमणकारियों के काल में प्राकृत पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेती है। लेकिन भाषा को संस्कृत-गर्भित करने की प्रवृत्ति गयी नहीं थी। प्रथम सदी ई० पू० से यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है।[२]

शकों ने अपने लेखों में दो प्रकार की लिपियों का प्रयोग किया है—खरोष्ठी और ब्राह्मी। खरोष्ठी लिपि का प्रयोग काफी बड़े भूभाग में हुआ है—उत्तर में स्वातघाटी से लेकर दक्षिण में मुर्ई-विहार और ओहिन्दोरको तक, पूर्व में मथुरा से लेकर पश्चिम में वारदक और वाहारी तक।[३] इन सभी लेखों की भाषा प्रायः एक ही सी थी।[४]

इसी पश्चिमोत्तर पठान प्रदेश (यूसुफजई) में पाणिनि-प्रभृति

---

१ डा० पाण्डेय; विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी; पृ २००।
२ वही।
३ डा० ह० दे० कोनो; खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स, पृ १५।
४ वही।

आदि व्याकरणाचार्य पैदा हुए थे। तक्षशिला विद्या का केन्द्र थी। सर्वास्तिवादी जो कि संस्कृत का प्रचुर प्रयोग करते थे इस प्रदेश में काफी प्रभावशाली थे।[1] यदि खरोष्ठी अभिलेखों का अनुशीलन किया जाय तो इस पर संस्कृत और मध्यदेशीय तथा शौरसेनी प्राकृत भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देगा।[2] मथुरा का सिंह शीर्ष लेख शौरसेनी प्रभाव में है।[3] पतिक का तक्षशिला ताम्रपत्र लेख धम्मपाद के नियमों तथा संस्कृत से प्रभावित दीखता है।[4] नम, नगरे, नवक मिक और उत्तरेण, शकमुखिण, रोहिणिमित्रेण आदि शब्दों का चयन धम्मपाद के नियमों के अनुसार हुआ है पर उसी में धनेमन, महदनसंघि, सवबुधन आदि शब्द संस्कृत के अनुसार हैं। इससे पता चलता है कि संस्कृत के नियमों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति हो चली थी।[5]

शकों द्वारा प्रयुक्त दूसरी लिपि ब्राह्मी थी। इस लिपि में लिखे गए शकों के प्रारंभिक लेख प्राकृत में ही हैं, परन्तु बाद में चलकर वे संस्कृत मिश्रित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए मथुरा के एक कुल में शोडास के लेख को लिया जा सकता है। अमोहिनी आयागपट्ट प्राकृत में लिखा गया है। परन्तु शोडास के कोषाध्यक्ष (गंगवरेण) का लेख संस्कृत मिश्रित है। इसी प्रकार नहपान का प्रारंभिक लेख प्राकृत में है, बाद में वे संस्कृत मिश्रित हो जाते हैं। इस प्रकार प्राकृत को संस्कृत गर्भित करने की प्रवृत्ति हो चली थी। इस प्रवृत्ति को चष्टन-वंश में राज्याश्रय प्राप्त हुआ। उनके काल में शुद्ध संस्कृत का प्रयोग होने लगा था, जहाँ शुद्ध संस्कृत का प्रयोग नहीं हुआ है

---

१ वही।
२ वही॰ पृ॰ १०२।
३ वही।
४ वही पृ॰ १०३।
५ वही।

उसकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत हो गयी है। इसके विपरीत शात-वाहनों के लेख जो कि ब्राह्मण थे—विदेशी नहीं—प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते थे, परन्तु यह भाषा संस्कृत मिश्रित होती थी इस प्रकार इस काल से संस्कृत भाषा की ओर लोगों का रुझान होने लगी थी। इससे यह मालूम होता है कि जन-साधारण की भाषा प्राकृत थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि साधारण जन की भाषा तो प्राकृत थी किन्तु उच्च वर्ग साहित्य में संस्कृत का ही प्रयोग करता था।[1]

संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा को विद्वानों ने 'गाथा संस्कृत' की संज्ञा दी है। मिश्र अथवा 'गाथा संस्कृत' संस्कृत का वह रूप है जो पाणिनि के नियमों के अनुसार नहीं चलता पर प्राकृत व्याकरण के रूपों एवं शब्द-समूह से सतत प्रभावित मिलता है। डा० भोला शंकर व्यास ने इस प्रकार की भाषा के उत्पन्न होने के संबंध में दो कारणों पर प्रकाश डाला है[2]—

(१) "कुछ लेखकों ने किसी मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा को संस्कृत या साहित्यिक रूप देने की चेष्टा की हो तथा उसमें संस्कृत तत्त्वों की बहुलता भर दी हो।"

(२) "संस्कृत में कई अपाणिनीय देश्य प्रयोग स्वाभाविक रूप से मिल गए तथा उसका यह रूप पाणिनि संमत न होने के कारण मिश्र संस्कृत बन गया। उदाहरण के लिए बौद्ध मिश्र संस्कृत में हमें 'भिक्षुस्य'[3] जैसे रूप मिलते हैं। यह रूप अपाणिनीय है क्योंकि 'भिक्षु' शब्द के षष्ठी एकवचन में 'भिक्षोः' रूप होना चाहिए। संभवतः यह रूप रामस्य, देवस्य आदि के सादृश्य पर बना लिया गया है। अका-रान्त शब्दों में संस्कृत विभक्ति-चिह्न 'स्य' है, किन्तु इकारान्त, उका

दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० १८७।
हि० सा० बृ० इ०, प्रथम भाग, पृ० १०१।
एपि० इं० ८।१०१।

शब्द में यह 'भक्षु' (भक्षो, भिक्ष्णोः भिक्षोः) है। भिक्षु शब्द के साथ यह अकारान्त शब्दों का षष्ठी एक वचन का विभक्ति चिह्न 'स्स' जोड़कर 'भिक्षुस्स' रूप बना दिया गया। ऐसा भी हो सकता है कि प्राकृत रूप 'भिक्खुस्स' का संस्कृतीकृत रूप (भिक्षुस्स) रहा हो। प्राकृत में भिक्षु शब्द के षष्ठी एक वचन में 'भिक्खुणो, भिक्खुस्स' ये दोनों वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार प्राकृत के प्रभाव पर बनाए गए संस्कृत रूपों की प्रचुरता मिश्र संस्कृत को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त-प्राकृत शब्दों तथा प्राकृत मुहावरों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। इस भाषा के तीन रूप पाये जाते हैं—बौद्ध मिश्र या बौद्ध संकर संस्कृत (बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत) जैन मिश्र संस्कृत तथा हिन्दू मिश्र संस्कृत।"

इस प्रकार शक-काल में, विशेष कर पश्चिमी भारत के उत्तरार्ध, प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा ले रही थी। बौद्ध साहित्य ललित विस्तर तथा महावस्तु आदि में प्राकृत को संस्कृत में बदलने का प्रयास किया जा रहा था। शुद्ध संस्कृत का प्रयोग दिव्यावदान में मिलता है जिसका काल-निर्धारण द्वितीय शती-ईस्वी किया गया है।[१]

शुद्ध संस्कृत का बड़ा और सुन्दर प्रयोग महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ़ लेख में मिलता है। शुंगों के बाद उन का राजकीय लेख शुद्ध संस्कृत में मिलता है। यह गद्य में लिखा है पर काव्य-शैली का भी कहीं-कहीं पुट मिलता है।[२] इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण उसी के लेख में मिलता है जिसमें वह गद्य और पद्य दोनों में प्रवीण बतलाया गया है—

...गद्य-पद्य-काव्यविधान-प्रवीणेन...

प्राचीन साहित्य, प्राकृत और संस्कृत दोनों, अधिकतर, प्राय २

१ हि० सं० लि० कीथ, पृ० १५।
२ कीथ० हि० सं० लि०, पृ० ५६।

मूलतः, पद्य में है। वस्तुतः ब्राह्मणों और आरण्यकों के गद्य साहित्य के बाद सूत्रों को छोड़कर रुद्रदामन के गिरनार-प्रशस्ति लेख के पहले संस्कृत गद्य का कोई धाराप्रवाही स्वरूप हमें नहीं मिलता। संस्कृत गद्य के विकास में अनेक शताब्दियों का यह अंतराल वस्तुतः समझ में नहीं आता। वैसे गद्य अथवा सूत्र पद्धति का आभास हमें कौटलीय अर्थशास्त्र भरत के नाट्य-शास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्रों से मिल जाता है, किन्तु पहले तो यह आभास मात्र है, दूसरे इन ग्रन्थों का रुद्रदामन का पूर्ववर्ती होना निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वात्स्यायन तो निश्चय रुद्रदामन के पीछे के अथवा आसपास के हैं भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ ही अंश संभवतः उस शकाभिलेख से पहले रखे जा सकेंगे और यद्यपि अर्थशास्त्र अधिकांश में उससे पहले का हो सकता है उसके गद्य को हम विशिष्ट साहित्य की दृष्टि से नहीं देख सकते। इससे ब्राह्मणों के बाद पहला गद्य संबंधी उदाहरण हमें रुद्रदामन की इस प्रशस्ति में ही मिलता है।

इसके गद्य की विशेषताओं को थोड़ा समझ लेना चाहिए। श्री डी॰ बी॰ दिस्कालकर ने अपनी पुस्तक 'सिलेक्शंस फ्राम संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स' में जूनागढ़ लेख के गद्य की विशेषताओं को बतलाते हुए कहा है कि यह काव्य-शैली में तथा वैदर्भी रीति के अनुसार लिखा गया है।

"अभिलेख की भाषा में क्रियाओं का अत्यंत ही अभाव दिखाई पड़ता है। जितना लेख प्राप्त है उसमें केवल दो मुख्य क्रियाएँ मिलती हैं—वृत्त और आसीत। अनुमानतः पूरे लेख में इस प्रकार की चार और क्रियाएँ रही होंगी। क्रियाओं का यह अभाव संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्य के पाठकों के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं है। यद्यपि संस्कृत-व्याकरण में क्रिया-पद के रूपों को बहुत विस्तार में दिया गया है तथापि संस्कृत गद्य लेखक बहुत ही प्रचलित और क्रिया के सरल रूपों का प्रयोग करते हैं। दूसरी तरफ यह लेख

सर्वोत्तम गद्य कृतियों से समानता रखता है, क्योंकि इसमें सरल शब्दों की अपेक्षा समासों के प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया गया है। पूरे लेख में इन समासों के साथ और सरल क्रम का ही प्रयोग किया गया है, जिससे उनके समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।"

"लेखक की विषय-वर्णन की शैली सरल और प्रवाहमयी है। लेख का उद्देश्य महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा सुदर्शन तड़ाक के पुनर्निर्माण का वर्णन करना है, इसलिए अभिलेख 'इदं तडाकं सुदर्शनं' से प्रारंभ होता है और यही पद ८ वाक्यों में कर्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिनमें लेखक ने विषय का वर्णन किया है।"

"इस तड़ाक को रुद्रदामन ने इस तरह सुन्दर बनवाया कि वह दांत में दबा हुआ सा लगता था। यह तड़ाक मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रिय (राज्यपाल) वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया था और मौर्य राजा अशोक के प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने उसमें नालियों और सीढ़ियों का निर्माण कराया। भयंकर आंधी और वर्षा के कारण पलाशिनी और स्वर्णसिकता नदियों में बाढ़ आ गयी और उसके वेग से झील की दीवार में चार सौ बीस हाथ चौड़ा उतना ही लंबा तथा पचहत्तर हाथ गहरा दरार पड़ गया जिससे झील का सारा पानी बाहर निकल गया और सुदर्शन तड़ाक दुर्दर्शन हो गया। इससे स्पष्ट है कि लेख का अधिकांश भाग झील के पुनर्निर्माण का वर्णन करता है। इसमें लेखक ने रुद्रदामन के व्यक्तित्व का भी गुणगान किया है।"

'झील के इतिहास को एक ही वाक्य में लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है, दूसरी तरफ भयानक तूफान का विस्तृत वर्णन है, जिससे लेखक की काव्य प्रतिभा की उत्कृष्टता का पता चलता है। लेखक ने कुछ इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग बाद के शिलालेखों में बहुत अधिक मिलता है। यथालंकार

मूलतः, पद्य में है। वस्तुतः ब्राह्मणों और आरण्यकों के गद्य सहित मात्र सूत्रों को छोड़कर रुद्रदामन के गिरनार-प्रशस्ति लेख के पहले संस्कृत गद्य का कोई धाराप्रवाही स्वरूप हमें नहीं मिलता। संस्कृत गद्य के विकास में अनेक शताब्दियों का यह अंतराल वस्तुतः समझ में नहीं आता। वैसे गद्य अथवा छन्द पद्धति का आभास हमें कौटलीय अर्थशास्त्र भरत के नाट्य शास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्रों से मिल जाता है किन्तु पहले तो यह आभास मात्र है, दूसरे इन ग्रन्थों का रुद्रदामन का पूर्ववर्ती होना निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वात्स्यायन तो निश्चय रुद्रदामन के पीछे के अथवा आसपास के हैं भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ ही अंश संभवतः उस शकाभिलेख से पहले रखे जा सकेंगे और यद्यपि अर्थशास्त्र अधिकांश में उससे पहले का हो सकता है उसके गद्य को हम विशिष्ट साहित्य की दृष्टि से नहीं देख सकते। इससे ब्राह्मणों के बाद पहला गद्य संबंधी उदाहरण हमें रुद्रदामन की इस प्रशस्ति में ही मिलता है।

इसके पद्य की विशेषताओं को थोड़ा समझ लेना चाहिए। श्री डी० सी० हिल्कामर ने अपनी पुस्तक 'सिलेक्शंस फ्राम संस्कृत इंस्क्रप्शन्स' में जूनागढ़ लेख के गद्य की विशेषताओं को बतलाते हुए कहा है कि यह काव्य-शैली में तथा वैदर्भी रीति के अनुसार लिखा गया है।

"अभिलेख की भाषा में क्रियाओं का अत्यंत ही अभाव दिखाई पड़ता है। जितना लेख प्राप्त है उसमें केवल दो सकर्मक क्रियाएँ मिलती हैं—वतते और आसीत। अनुमानतः पूरे लेख में इस प्रकार की चार और क्रियाएं रही होंगी। क्रियाओं का यह अभाव संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्य के पाठकों के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं है। यद्यपि संस्कृत-व्याकरण में क्रिया-पद के रूपों को बहुत विस्तार में दिया गया है तथापि संस्कृत गद्य लेखक बहुत ही प्रचलित और क्रिया के सरल रूपों का प्रयोग करते हैं। दूसरी तरफ यह लेख

सर्वोत्तम गद्य कृतियों से समानता रखता है, क्योंकि इसमें अलग शब्दों की अपेक्षा समासों के प्रयोग का अधिक महत्व दिया गया है। पूरे लेख में इन समासों के साथ और सरल रूप का ही प्रयोग किया गया है जिससे उनके समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।"

"लेखक की विषय-वर्णन की शैली सरल और प्रवाहपूर्ण है। लेख का उद्देश्य महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा सुदर्शन तड़ाग के पुनर्निर्माण का वर्णन करना है, इसलिए अभिलेख 'इदं तडागं सुदर्शनं' से प्रारंभ होता है और यही पद [illegible] वाक्यों में कर्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें लेखक ने विषय का वर्णन किया है।"

"इस तड़ाग की रुद्रदामन ने इस तरह सुन्दर व्यवस्था कि यह [illegible] में रखा हुआ सा लगता था। यह तड़ाग मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रिय (राज्यपाल) वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया था और मौर्य राजा अशोक के मातहत शासक यवन तुषास्प ने इसमें नालियों और [illegible] का निर्माण कराया। मार्गशीर्ष [illegible] कार्तिकी और [illegible] वर्षाकालीन और [illegible] नदियों में बाढ़ आ गई [illegible] इस प्रकार की स्थिति में [illegible] टूट गया [illegible] और सुदर्शन तड़ाग दुर्दर्शन हो गया। इससे स्पष्ट है कि लेख का अधिकांश भाग [illegible] के पुनर्निर्माण का वर्णन करता है। इसमें लेखक ने रुद्रदामन के व्यक्तित्व का भी सुन्दर [illegible] किया है।"

"सुदर्शन के इतिहास का एक ही वाक्य में स्पष्ट और सुन्दर ढंग से चित्रित किया है [illegible] जिससे लेखक की काव्य-प्रतिभा का [illegible] है। लेखक ने युद्ध इस प्रकार के [illegible] का [illegible] किया है जिसका प्रयोग बाद के [illegible] में बहुत अधिक मिलता है। [illegible]

मूलतः, पद्य में हैं। वस्तुतः ब्राह्मणों और आरण्यकों के गद्य साहित्य के बाद सूत्रों को छोड़कर रुद्रदामन के गिरनार-प्रशस्ति लेख के पहले संस्कृत गद्य का कोई धाराप्रवाही स्वरूप हमें नहीं मिलता। संस्कृत गद्य के विकास में अनेक शताब्दियों का यह अंतराल वस्तुतः समझ में नहीं आता। वैसे गद्य अथवा सूत्र पद्धति का आभास हमें कौटलीय अर्थशास्त्र भरत के नाट्य-शास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्रों से मिल जाता है किन्तु पहले तो यह आभास मात्र है, दूसरे इन ग्रन्थों का रुद्रदामन का पूर्ववर्ती होना निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वात्स्यायन तो निश्चय रुद्रदामन के पीछे के अथवा आसपास के हैं, भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ ही अंश संभवतः उस शकाभिलेख से पहले रखे जा सकेंगे और यद्यपि अर्थशास्त्र अधिकांश में उससे पहले का हो सकता है उसके गद्य को हम विशिष्ट साहित्य की दृष्टि से नहीं देख सकते। इससे ब्राह्मणों के बाद पहला गद्य संबंधी उदाहरण हमें रुद्रदामन की इस प्रशस्ति में ही मिलता है।

इसके गद्य की विशेषताओं को थोड़ा समझ लेना चाहिए। श्री डी० बी० डिस्कालकर ने अपनी पुस्तक 'सिलेक्शंस फ्राम संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स' में जूनागढ़ लेख के गद्य की विशेषताओं को बतलाते हुए कहा है कि यह काव्य-शैली में तथा वैदर्भी रीति के अनुसार लिखा गया है।

"अभिलेख की भाषा में क्रियाओं का अत्यंत ही अभाव दिखाई पड़ता है। जितना लेख प्राप्त है, उसमें केवल दो समर्थक क्रियाएँ मिलती हैं—भवते और कारित। अनुमानतः पूरे लेख में इस प्रकार की चार और क्रियाएँ रही होंगी। क्रियाओं का यह अभाव संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्य के पाठकों के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं है। यद्यपि संस्कृत-व्याकरण में क्रिया-पद के रूपों को बहुत विस्तार से दिया गया है तथापि संस्कृत गद्य लेखक बहुत ही प्रचलित क्रिया के सरल रूपों का प्रयोग करते हैं। दूसरी तरफ यह लेख

सर्वोत्तम गद्य कृतियों से समानता रखता है, क्योंकि इसमें सरल शब्दों की अपेक्षा समासों के प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया गया है। पूरे लेख में इन समासों के सीधे और सरल रूप का ही प्रयोग किया गया है, जिससे उनके समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।"

"लेखक की विषय-वर्णन की शैली सरल और प्रवाहमयी है। लेख का उद्देश्य महाक्षत्रप रुद्रदामन द्वारा सुदर्शन तड़ाक के पुनर्निर्माण का वर्णन करना है, इसलिए अभिलेख 'इदं तड़ाकं सुदर्शनं' से प्रारंभ होता है और यही पद ६ वाक्यों में कर्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिनमें लेखक ने विषय का वर्णन किया है।"

"इस तड़ाक को रुद्रदामन ने इस तरह सुन्दर बनवाया कि वह बांध में बना हुआ सा लगता था। यह तड़ाक मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रिय (राज्यपाल) वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया था और मौर्य राजा अशोक के प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने उसमें नालियों और सीढ़ियों का निर्माण कराया। भयंकर आंधी और वर्षा के कारण पलाशिनी और स्वर्णसिकता नदियों में बाढ़ आ गयी और उसके वेग से झील की दीवार में चार सौ बीस हाथ चौड़ा उतना ही लंबा तथा पचहत्तर हाथ गहरा दरार पड़ गया जिससे झील का सारा पानी बाहर निकल गया और सुदर्शन तड़ाक दुर्दर्शन हो गया। इससे स्पष्ट है कि लेख का अधिकांश भाग झील के पुनर्निर्माण का वर्णन करता है। इसमें लेखक ने रुद्रदामन के व्यक्तित्व का भी गुणगान किया है।"

"माल के इतिहास को एक ही वाक्य में लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है, दूसरी तरफ भयानक तूफान का विस्तृत वर्णन है, जिससे लेखक की काव्य प्रतिभा की उत्कृष्टता का पता चलता है। लेखक ने कुछ इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग बाद के शिलालेखों में बहुत अधिक मिलता है। यथालंकार

का प्रायः अभाव ही है। केवल सुदर्शन शब्द पर शब्द-क्रीड़ा और दो एक अन्य स्थानों पर उपमालंकारों का प्रयोग दिखायी पड़ता है। दूसरी तरफ शब्दालंकारों के प्रयोग में लेखक विशेषरूप से पटु दिखायी पड़ता है। शब्दालंकार का वह रूप जिसमें एक ही वाक्यांश के निकटस्थ शब्दों में प्रयोग होता है विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए—सहस्र वितरण, सममाख्या, त्रिरवाप्ता, अविभेयता बोधेयता, नाम्ना ..नाम्ना .. परनाम्ना, शक्तेनशक्तेन परत्वेन अस्मिदेनसर्वेणशास्येन सेतुबन्धनाप्रपन्नसुप्रतिष्ठित मर्यादो परो धार्मिकविधान (कीलहार्न)।[3]

संस्कृत-काव्य के उदय एवं विकास पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेनी चाहिए। संस्कृत काव्य के उदय तथा विकास के प्रसंग में मैक्समूलर का 'काव्य के पुनर्जागरण' का सिद्धान्त प्रसिद्ध है।[1] मैक्समूलर के अनुसार विक्रम का आरम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शकों के प्रबल आक्रमणों के कारण भारत की आन्तरिक दशा नितान्त अशान्त थी, राजनीतिक वातावरण एकदम क्षुब्ध था जिसके कारण काव्य पनप न सका। साहित्य-रचना के लिए आवश्यक शान्त वातावरण की छाया भी इस युग में दृष्टिगोचर नहीं होती। फलतः यह अंधकारमय युग संस्कृत काव्य की घोर निद्रा का काल है और इसका अंत तथा कल्पना का मंगलमय प्रभात तब उदित हुआ, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक संलनाद उद्घोषित हुआ। अतः गुप्त काल में ललितकला का अभ्युदय सम्पन्न होने से संस्कृत काव्य का पुनर्जागरण हुआ। इस प्रकार विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी का युग, मैक्समूलर के अनुसार काव्य के अभाव का युग था।

परन्तु डा० बूलर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इस युग में भी कमनीय स्तुतिकाव्यों की रचना हुई थी।[2] यह युग गद्य तथा पद्य

---

१ पं० बलदेव उपाध्याय, सं० सा० इ०, पृ० २१७।
२ इं० एं० १९१३।

उभयविध काव्यों के प्रणयन का था। शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार शिलालेख अपनी शैली की रोचकता, भावप्रवणता आदि के हेतु एक लघु गद्य-काव्य का आनन्द देता है। यहाँ रुद्रदामन स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द-समय-संपन्न, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है।[1] गद्य-पद्य के गुणबोधक ये शब्द, नितांत पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।[2] इस प्रकार मैक्समूलर ने ईसवी की प्रारंभिक दो शताब्दियों में शकों के आक्रमण के कारण संस्कृत के साहित्यिक प्रयत्नों में ह्रास की कल्पना की थी, परन्तु इतिहास के साक्ष्य के आधार पर पश्चिमी शक संस्कृत के उन्नायक सिद्ध होते हैं, न कि विध्वंसक।[3]

इस चेतना को सामने रखते हुए रुद्रदामन के गद्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। प्रकट है कि समसामयिक अन्य जातियाँ इस देश में आकर भी, यहाँ की भाषा और धर्म का अंगीकार करके भी, भाषा के अपने ज्ञान में वह प्रवीणता प्राप्त नहीं कर सकीं जिसे शकों ने अपनी निष्ठा से प्राप्त किया था। संभवतः विदेशी राजकुलों की स्थानीय प्राकृत अथवा संस्कृत की पकड़ इसलिए भी दुर्बल थी कि एक तो उनका देश से संपर्क इतनी मात्रा और सीमा में न हो सका और संभवतः इससे भी कि वे देश की प्रतिनिधि जातियों के विजेता होने के कारण प्रतिनिधि भाषा के भी शत्रु हो गए। शकों का शक्ति विस्तार अपेक्षाकृत विस्तृत था, प्रायः सिंध और झेलम की घाटी से नर्मदा की घाटी तक, फिर मालवा के पूर्वी सिरे से काठियावाड़ और

---

१ स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य—(काव्य विधान प्रवीणे) न।

२ ब्यूलर, ई० ए० १९१३।

३ भ० बलदेव उपाध्याय, सं० सा० इ०, पृ० १४०।

महाराष्ट्र तक। ग्रीक ज्योतिष के शब्दों का संस्कृतीकरण शकों के ही काल में, विशेषतः उज्जयिनी के केन्द्र में हुआ। नहपान और उषव दात स्वयं सांस्कृतिक दृष्टि से इस विचार के पोषक हुए और रुद्रदामन तो संस्कृत को राज्याश्रय दे और राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर पुष्यमित्र शुंग और ब्राह्मणों का समानधर्मा बन गया। कुछ आश्चर्य नहीं जो शकों के आन्ध्रसातवाहनों के निरंतर प्रतिस्पर्धी बने रहने के बावजूद, दोनों के बीच सदियों संघर्ष बने रहते हुए भी भाषा और साहित्य संबंधी राष्ट्रीयता के कारण ही संभवतः शक अराष्ट्रीय नहीं कहे जा सके और देश से निकाले न जा सके। इस परंपरा को शकों ने इस ओर से पकड़ा यद्यपि स्पष्ट प्रमाण इस बात के नहीं हैं, कि बुद्ध और महावीर द्वारा आक्रांत संस्कृत के पक्षपाती होने के कारण वे श्रमण विरोधी और समाज के नेता ब्राह्मणों के, उनकी देवभाषा संस्कृत का पल्लवन करने के कारण कृपापात्र बन गए हों। यह परंपरा शकों के आचरण में इतनी रूढ़ हो गयी कि जब गुप्तों के प्रयत्न से उन्हें देश छोड़ना पड़ा और प्रयाग स्तम्भ के समुद्रगुप्त के प्रशस्ति लेख ने उन्हें काबुली सीमा-प्रांत पर निर्दिष्ट किया तब से सदियों के उत्तर वर्ती काल में शाहि राजकुल के रूप में उन 'शाहिशाहानुशाहि शक मुरुण्डों' ने भारत के सिंहद्वार की उसके आक्रान्ता तुर्कों से ९ वीं ११ वीं सदी तक रक्षा की।

संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति उनका यह अनुराग इतने महत्त्व का इस कारण और भी हो जाता है कि उस काल के ब्राह्मणधर्मी राजकुल संस्कृत में न लिखकर प्राकृत ही में अपने लेख लिख जाते थे। स्वयं आंध्र सातवाहनों ने तो प्राकृत की अपना संरक्षण इस मात्रा में दी कि न केवल उस काल का बल्कि समूचे प्राकृत साहित्य का महानतम् काव्य-ग्रन्थ 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) की रचना सातवाहन स्वयं हाल द्वारा हुई। इस गाथा सप्तशती का

प्रभाव अभी पिछले दिनों तक, बिहारी की हिन्दी सतसई तक पर पड़ता रहा है।[1]

साहित्य से भी अधिक शक राजाओं की सरक्षा ज्योतिष विज्ञान को मिली। उज्जयिनी उस काल का 'ग्रीनविच' बनी और वहीं नक्षत्र विद्या और गणित का केन्द्र बना जो अभी हाल तक किसी न किसी रूप में बना रहा है।[2] यद्यपि यवनों का भारतीय ज्योतिष पर प्रभाव है तथापि उनका प्रभाव इस देश की राजनीति में प्रमुख रहते उतना नहीं पड़ा। वस्तुतः यवन ज्योतिष का यह भारतीयकरण संभवतः शक शासन के मध्यान्ह में पहली और तीसरी सदियों के बीच हुआ। शक के बाद वराहमिहिर ने यवनी-विदेशी ज्योतिष के प्रचलित पाँच सिद्धान्तों को अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पंचसिद्धान्तिका' में संग्रहीत किया। इसके अतिरिक्त भी 'बृहत्संहिता' और 'होराशास्त्र' में उन्होंने गणित और फलित ज्योतिष का अध्ययन प्रस्तुत किया।

भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण संवत् शक संवत् है। शक संवत् पश्चिमोत्तर भारत में नहीं मध्यभारत में प्रथमतः प्रचलित हुआ। इसका प्रवर्तक उज्जयिनी नगर का शासक चष्टन था।[3] शक संवत् का प्रचलन काफी होता है। उसके बाद से एकमात्र, पंचांगों और कर्मपत्रों में व्यवहृत होता है। भारत का राष्ट्रीय कैलेण्डर शक संवत् में ही है। यह संभवतः इसीलिए क्योंकि ज्योतिष-विद्या में ये शक काफी प्रवीण थे। नक्षत्र और गणित का इनको अधिक ज्ञान था। उज्जयिनी इस काल विद्या का केन्द्र थी।



१ डा० उपाध्याय, विश्व साहित्य की रूपरेखा, पृ० ५०२।

२ हि० सा० बृ० इ०, प्रथम भाग, पृ० ७०६।

३ डा० पाण्डेय, इंडियन पेलियोग्राफी, पृ० १६३।

कम से कम शैली की दृष्टि से, मथुरा के गए हों। साधारणतः ये मूर्तियाँ कुषाणकालीन कही जाती हैं। ये सबका कुषाण ही हैं, या वे शक नहीं हैं इस संबंध में निश्चित और अंतिम राय नहीं दी जा सकती। क्योंकि जैसा पहले लिखा जा चुका है कुषाणों और शकों की शैलियों में कोई अंतर नहीं है और जो कुछ बताया भी जाता है वह या तो नगण्य है या कृत्रिम। सौ वर्ष के भीतर का अंतर कला की दृष्टि से तब तक कि उसमें नवागतुक जाति ने अपने महत्त्व के योग दान द्वारा अपना जातीय-कला विशेषता द्वारा क्रान्ति न उत्पन्न कर दी हो, कोई अंतर नहीं होता।[1] ये मूर्तियाँ इस अर्थ में शक भी कहला सकती हैं[2]।

मध्यदेश पर भी इसी प्रकार पहले शकों का फिर कुषाणों का शासन स्थापित हुआ। मध्यदेश से यहाँ तात्पर्य गंगा-यमुना के पश्चिमी कांठे से है, प्रयाग और काशी तक और जब-तब पाटलिपुत्र तक। शक शासन का एक केन्द्र वाराणसी भी थी, जहाँ शकों का वनस्पर नामधारी क्षत्रप शासन करता था। कुछ पहले, शकधारा के पहले प्रवाह में अम्लाट नामक शक ने जैसा युगपुराण से प्रकट होता है, मगध के हृदय पाटलिपुत्र तक आक्रमण कर उसे आक्रान्त कर लिया था यद्यपि कला की दृष्टि से इस आक्रमण को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वाराणसी में शकों का होना निश्चय सारनाथ की कला पर उनकी छाया प्रतिष्ठित करता है, जो मथुरा की ही भाँति पूर्व में कला का एक केन्द्र बन गयी। वहाँ की अनेक बोधिसत्वादि की मूर्तियाँ मथुरा परंपरा में हैं—शक-कुषाण शैली की परिचायक हैं। वाराणसी से पूर्व पटना और काशी के बीच, बक्सर में भी

---

१. डा॰ भगवतशरण उपाध्याय, वि॰ स्मृ॰ ग्रंथ, सं॰ १०, पृ॰ २११-८०।

२. वहीं।

कुषाणकालीन मृण्मूर्तियाँ मिलती हैं, उन पर भी शक-कुषाण-शैली की छाप स्पष्ट है[1]। वस्तुतः शैली का संक्रमण सामाजिक प्रवृत्तियों की संक्रमण की ही भाँति जातियों के दूर के संपर्क से भी हुआ करता है[2]। यदि इस दृष्टि से हम देखें तो पटना संग्रहालय में रखी अनेक मिट्टी की मूर्तियाँ उस शैली की ओर संकेत करेंगी जो मथुरा और सारनाथ की थी, जिस पर शक-कुषाण शैली की मुहर थी[3]।

शकों का दूसरा प्रादेशिक विभाग और उनके शासन का प्रधान विस्तार मालवा और नर्मदा की घाटी से काठियावाड़, गुजरात और महाराष्ट्र तक हुआ। आश्चर्य है कि इन स्थानों में शकों के शासन काल की विशिष्ट कला-मूर्तियाँ विशेषतः नहीं मिलतीं। उज्जयिनी की खुदाई में उसकी उपलब्ध सामग्री बहुत उत्साहवर्धक नहीं कही जा सकती। इसी तरह ग्वालियर, सांची, भिलसा-भरहुत आदि केन्द्र या तो शकों के पूर्व के हैं या उनके कुछ बाद के गुप्तकालीन। जैसे उदयगिरि, बाघ, अजंता, भूमरा, नोह आदि। शकों और गुप्तों के बीच वाकाटकों की स्थिति थी और उनके प्रभाव से भी कला कुछ कलाकृतियाँ उपलब्ध हैं, पर शकों का पश्चिमी भारत में निर्माण-कार्य प्रायः बहुत थोड़ा है। हाँ, अमरावती स्तूप के ऊपर की संगमरमर की सांस्कृतिक पट्टिकायें जो कुषाणकालीन बतलायी जाती हैं उनका सीधा संपर्क निश्चय कुषाणों से उतना न रहा होगा जितना शकों से। यद्यपि कला की दृष्टि से आकृति-लक्षणों का आग्रह मथुरा की ओर था, उज्जयिनी की ओर नहीं, तथापि यह निश्चय है कि मथुरा से दक्षिण जाने वाला मार्ग उज्जयिनी से होकर ही जाता था, जो शकों का इस दिशा में प्रधान केन्द्र था।

---

१ वही।
२ वही।
३ वही।

इस युग में भारतीय कला में एक ऐसी नवीनता और ओज समावेश हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यह तो ठीक-ठी नहीं कहा जा सकता कि भिन्न-भिन्न कारणों से प्रेरित होकर कला अपन पुराने तथा जीर्णशीर्ण आवरण को छोड़कर नवीनता की ओर मुड़ने लगती है, पर इतिहास इस बात की साक्षी है कि किसी महान् घटना, राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही कलाकारों के दृष्टिकोणों में भी अन्तर आने लगता है उनके हृदय के कोनों में छिपे हुए जीर्णशीर्ण कला के सिद्धान्त नई स्फूर्ति से प्रेरित होकर युग की कला को एक नये साँचे में ढालते हैं। राजा और प्रजा की धमनियों में बहते हुए सांस्कृतिक भाव को ये कलाकार मूर्त-रूप देते हैं। उदाहरण के लिए गुप्त-युग को लीजिए। कुषाण साम्राज्य के अंतिम दिनों की प्राचीन कला उस टिमटिमाते हुए दीपक के समान है जिसका तेल जल चुका है फिर भी उसकी बत्ती उकसाई जाती है जिससे उस दीपक का प्रकाश चाहे वह कितना ही धीमा क्यों न हो थोड़ी देर तक जलते हुए महल में उजाला रख सके। लेकिन गुप्त-युग की कला को लीजिए तो मालूम पड़ता है कि दीपक तो वही पुराना है लेकिन नवीन तेल बत्ती से सुशोभित होकर अपने आपन्नस्थान स्निग्ध प्रकाश से वह दिशाओं को आपूरित करने लगता है।[1] यह इसी युग की प्रेरणात्मक शक्ति का फल है जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय कला देश-की पहाड़-दीवारों लांघते हुए अफगानिस्तान मध्यएशिया, चीन, जापान, कोरिया बरमा लंका, मलाया इत्यादि में जा पहुँचा।

(२) मूर्तिकला :

जिस प्रकार शुंगकाल में साँची और भरहुत कला के केन्द्र थे उसी प्रकार शक काल में मथुरा भारतीय कला का महान केन्द्र बनी। मथुरा में प्राप्त शक क्षत्रपों का सिंहस्तम्भ पर के खरोष्ठी लेखों से पता

---

१ वि० स्मृ० ग्र० से २ १, पृ० ८१।

चलता है कि प्रथम शती ई० पू० के शक-क्षत्रप बौद्ध धर्म और कला के पोषक थे[1]। मथुरा के तत्कालीन कला के अध्ययन से पता चलता है कि मथुरा कला पूर्णतः भारतीय कला थी। यद्यपि इसका प्रेरणा-स्रोत भरहुत और साँची की कला थी तथापि न्यूनाधिक वह उधर पश्चिमी कला (*गंधार कला*) से भी अनुप्राणित थी (*रोमन कला का जो भारतीयकरण हुआ उसका नाम गंधार शैली है*)। परन्तु फोगल के मतानुसार मथुरा-कला में गंधार कला का भारतीयकरण हो जाता है[2]। मानो मथुरा कला गंधार से किसी ज्ञात प्रकार से मेल नहीं खाती[3]। मथुरा की इस मूर्तिकला में एक नवीन दिशा दिखाई देती है, जिसमें बुद्ध-बिम्ब का अंकन अधिक उल्लेखनीय है। इस काल की मथुरा की बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

"मूर्तियाँ या तो चारों ओर कुरेदकर अथवा बहुत गहरी कुरेदकर बनाई गई हैं, व फतेहपुर सीकरी के लाल रेतीले पत्थर की बनी हैं, सिर घुटा हुआ दिखाया जाता है और उस पर घुँघराले बाल नहीं होते। जहाँ भी उष्णीष होता है सर्पाकार होता है, भौंहों के बीच ऊर्णा तथा मूँछें नहीं होतीं, दायाँ हाथ अभय-मुद्रा में उठा रहता है और बायें हाथ की मुट्ठी बँधी रहती है, या बैठी मूर्तियों में जाँघ पर रखा रहता है। वस्त्र चुस्त रहते हैं आसन पर कमल नहीं होता वरन् वह सिंहासन के रूप में पाद-पीठ के परिचारों सहित होता है। खड़ी मूर्ति की दशा में सिंह पैरों के बीच रहता है, गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियों के समान मुख पर शांति एवं गंभीरता के भाव के स्थान पर पौरुष एवं जोश का भाव होता है और प्रभामण्डल सादा होता है या किनारों पर दन्ता

---

1 एपि० इं० ९। १४६।
2 मथुरा म्यू० कैटलाग, पृ० ३१।
3 ज० रा० ए० सो०, सं० १९०१, पृ० ८०४।

मुद्राओं का काम होता है। यह विशेषताएँ 'जिन' मूर्तियों में भी पायी जाती हैं[1]।" उदाहरण के लिए सारनाथ संग्रहालय में कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष में भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्व की विशाल प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका छत्र अत्यधिक अलंकृत है, पैरों के बीच में सिंह है तथा मूर्ति अत्यंत भव्य तथा शक्तिपूर्ण है। ऐसी ही एक प्रतिमा भिक्षु बल द्वारा निर्मित इण्डियन म्यूजियम में है, जो जेतवन में पायी गयी थी। कनिष्क के राज्य-काल के दूसरे वर्ष में निर्मित एक सुन्दर बुद्ध प्रतिमा जिसका एक हाथ टूट गया है, अभी हाल में कौशाम्बी में मिली है और अब इलाहाबाद संग्रहालय में है जिसके निर्माणकर्ता भी भिक्षु बल ही थे।

मथुरा कला की सबसे बड़ी विशेषता बुद्ध-प्रतिमा की देन है। प्रश्न हो सकता है कि बुद्ध-मूर्ति का अंकन क्यों किया गया। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था, "आनन्द! जिस धर्म और विनय का मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है, वही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा।"[2] इसी प्रकार बीमार वक्कलि भिक्षु से जिसने भगवान के दर्शनों की इच्छा व्यक्त की थी, और जिसकी इच्छा पूर्ति के लिए भगवान स्वयं गए, कहा था, "वक्कलि! मेरी इस गंदी काया के देखने से तुम्हें क्या लाभ? वक्कलि! जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।"[3] बुद्ध मानव-गुरु ही रहना चाहते थे इसी लिए वह अपने शिष्यों को इस प्रकार का उपदेश दिया करते थे। एक जगह कहा भी है—

---

१ ए० एस० आई०, १९०१, पृ० ८०४।

२ महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ, २।३)

३ अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति (संयुत्त निकाय)

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥

अर्थात्—हे भिक्षुगण ! जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि में तपा कर, कसौटी में कसकर और अच्छी तरह ठोक-पीटकर पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसे खरा मानते हैं उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनों को ज्ञानाग्नि में तपाकर, बुद्धिरूपी कसौटी में कसकर तथा उनकी हरप्रकार पूर्ण परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करना, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हें सत्य मत मानना ।

यदि बुद्ध प्रतिमा के आविर्भाव के कारणों की खोज की जाय तो निम्नलिखित कारण हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे—

(क) पहले हम सामाजिक कारण कहेंगे । जब वैदिक प्रतिक्रिया के काल में भारत जाग रहे थे । ब्राह्मण धर्मावलम्बी अपने अपौरुषेय धर्म को अवैदिकों के सामने नीचा नहीं देखना चाहते थे । उन्होंने श्रमण-परंपरा के विरुद्ध, जो कि इस काल तक विख्यात हो चले थे, आन्दोलन किया—गृहस्थाश्रम धर्म का प्रचार किया और बतलाया कि स्वर्ग सुख और स्वर्ग की प्राप्ति उसी में है । इससे उन नवयुवकों और नवयुवतियों पर जो श्रमण धर्म को बहुत तेजी से ग्रहण करने लगे थे एक अवरोध लगा और हीनयानियों के अर्हतों और प्रत्येक बुद्धों की प्रतिष्ठा को धक्का । परिणामस्वरूप महायान के बोधिसत्वों का प्रादुर्भाव हुआ तथा बुद्ध की मूर्ति भी बनाई जाने लगी जिसकी पूजा-अर्चना कर गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर सकते थे ।

(ख) दूसरा कारण धार्मिक था । जन-विश्वास तर्क और दर्शन से परे होता है । ऐसी जनता के लिए व्यक्तिगत देवता अनिवार्य होता है जिसको वह अपना दुःख सुना सके, आपत्ति काल में जिसकी शरण ले सके । हिंदू धर्म के भक्ति-मार्ग में तो श्रद्धा-भक्ति का पूरा आचरण किया जा सकता था परन्तु बौद्ध धर्म में इसकी व्यवस्था न हो सकी थी । जब साधारण जनता भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुई तो

भक्ति मार्ग में पड़े होने के कारण उसे एक बड़ी कमी का बोध हुआ। प्राचीन बौद्ध बुद्ध को केवल मानव गुरु, आचार्य और पथ-प्रदर्शक के रूप में मानते थे। उनकी प्रतिष्ठा अभी देवपद पर नहीं हुई थी। बौद्ध धर्म का यह प्रारंभिक रूप हीनयान था। पर बौद्ध धर्म धर्म कहलाने लायक महायान काल में हुआ।[1] क्योंकि भक्तिभावना का उद्रेक सर्वप्रथम इसी में हुआ उसके पहले तो वह 'एकान्तिका' थी।

महायान में बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ अनेक 'बोधिसत्वों' की भी कल्पना हुई, उनकी भी मूर्तियाँ बनी और कालान्तर में हिन्दुओं की ही भाँति बौद्धों में भी देवमण्डल बना जिसमें अधिकतर हिन्दू देवता— शक्र ब्रह्मा, कुबेर आदि—अपने पुराने नाम से अथवा नाम बदलकर ले लिये गये। बुद्ध, बोधिसत्वों और अन्य देवताओं की सहस्रों मूर्तियाँ खोदी गयी और साधारण बौद्ध जनता की उपासना का केन्द्र बनी।

(ग) इस काल की बुद्ध अथवा बोधिसत्व की प्रतिमाओं का यदि अवलोकन किया जाय तो तीसरा कारण भी स्पष्ट हो जायगा जिसको हम जातीय कारण कहेंगे। ये मूर्तियाँ तत्कालीन भावना का पूरा अंकन करती हैं। वह काल विदेशी आक्रमकों का था। शक्ति और बल का ही चारों तरफ बोलबाला था। विदेशी स्वयं शक्तिशाली थे श्रेष्ठता का मापदण्ड उनमें पौरुष और शील था। इसीलिए पौरुष और शील का—बुद्ध एवं बोधिसत्वों के मुखों पर—प्रत्येक हाल दिखाया गया है। इस संबंध में यह भी जान लेना चाहिए कि शक लोग आमू दरिया की घाटी में बसने से पूर्व बर्बर, डाकू, खाना बदोश थे। खानाबदोशों का न कोई धर्म होता है और न दर्शन। यहाँ आने पर उनका ईरानी और ग्रीक संस्कृतियों से संपर्क हुआ जो मूर्ति-पूजक थे।

---

१ टी आर वी मूर्ति, दि सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म पृ ६।

इस प्रकार बुद्ध प्रतिमा का मूर्तन एक ऐसी जाति के द्वारा संभव हुआ जो युद्ध के लिए हमेशा तत्पर रहती थी जिनके देवता यम और हेराक्लस—मृत्यु के देवता—बर्बरता के द्योतक देवता थे। परन्तु भारतीय सीमा में प्रवेश करते ही ग्रीस की प्रतिमा बुद्ध से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसको इन विदेशी शासकों के सिक्के और अभिलेख प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार यक्ष और शक्ति का समन्वय हुआ। यही कारण है कि बुद्ध की प्रारम्भिक प्रतिमाओं में पौरुष और शक्ति का उद्रेक ज्यादा दिखाया गया है। जैसे जैसे विदेशियों की बुद्ध-निष्ठा गहरी होती गयी, धर्म का वास्तविक रूप वे समझने लगे। बुद्ध प्रतिमा के अंकन में परिवर्तन भी होता गया—शौर्य और शक्ति के स्थान को शान्ति और सौम्यता ग्रहण करता गया।

इस प्रकार मथुरा कला ने बौद्ध कला को अपने काल में विकास का भरपूर अवसर प्रदान किया। कनिंघम के अनुसार जहाँ कहीं भी वह उत्तरी-पश्चिमी भारत में गये सीकरी के रेतीले पत्थर में बने बोधिसत्वों की मूर्तियों को पाया[1]। इससे विदित होता है कि मथुरा बौद्ध तक्षण कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। कनिंघम के इस कथन का समर्थन उस काल का अभिलेख भी करता है[2]।

सारनाथ में प्राप्त कनिष्क के बौद्ध मूर्ति पर लेख से पता चलता है कि बोधिसत्व की एक प्रतिमा, महाक्षत्रप खरपल्लान के साथ वनस्पर ने जो कि वाराणसी का क्षत्रप था, कनिष्क के शासन काल के तीसरे वर्ष में उसको भेंट किया था। जिसको भिक्षुबल ने बनवाया था। फोगल के अनुसार वह मथुरा का निवासी था[3]।

---

१ मथुरा म्यू० कैटलाग, पृ० २८।

२ एपि० इं० ८। १७३।
भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।
महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनस्परेण॥

३ मथुरा म्यू० कैटलाग, पृ० १८।

शक प्रभाव बौद्ध कला के विकास ही में नहीं लगे थे बल्कि वे धर्मसहिष्णु थे और अन्य धर्मों का भी विकास का अवसर देते थे। इसको मथुरा में पाये गए जैन स्तूप अयागपट्ट आदि प्रमाणित कर देते हैं।

(४) भारतीय कला की व्यापकता

भारतीय कला सभी सम्प्रदायों का सर्वतोनिष्ठ एक ही मूल था। अतएव कोई मूर्ति जैन है अथवा बौद्ध इसका हम तब तक निर्धारण नहीं कर सकते हैं जब तक उस पर इस बात का कोई घोतक लेख नहीं मिलता। अयागपट्ट को ही लीजिए। ऐसा कहा जाता है कि अयागपट्ट जैनों के होते हैं किन्तु इसकी असारता तब हो जाती है जब हम यह जान जाते हैं कि अयागपट्ट बौद्ध बनवाते थे। इसका ज्ञान हमें अमरावती के किस्तुआ नामक स्थान होता है[1]।

भारतीय कला पर किसी धर्म विशेष का एकाधिक प्रभाव नहीं था इसका समर्थन 'कल्पनामण्डटीका' भी करता है जहाँ कनिष्क भ्रमस्वरूप जैन स्तूपों को बौद्ध स्तूप समझ लेता है। यह बात यहीं तक लागू नहीं होती। यदि प्राचीन भारतीय कला में प्रयोग किये गये कुछ चिन्हों प्रतीकों, को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे समान रूप से सभी धर्मों में प्रयुक्त किये गये हैं। उदाहरण के लिए 'त्रिशूल' को लीजिए। साधारणतया त्रिशूल शिव धारण करते हैं और इससे शैव धर्म का बोध होता है। पर प्राचीन कला में यह समान रूप से सभी धर्मों में प्रयुक्त हुआ है, जो भिन्न-भिन्न धर्मों और प्रयोजनों के साथ प्रकट होते हैं[2]। इसी तरह 'स्वस्तिक' से भी साधारणतया जैन मत का बोध होता है। किन्तु 'त्रिशूल' की ही भाँति यह भी सभी धर्मों

---

१ शर्मा, सी० पी० ई० हि०, पृ० १५१।
२ एपि० ई० २। ३११।

द्वारा अपनाया गया है—पवित्र और भाग्यशाली प्रतीक के रूप में।

यहाँ जो भ्रम पैदा करने वाली चीज है वह है 'धर्मचक्र'। इसका जैनों में उतना ही प्रचार किया जितना बौद्धों ने। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रतीक का जैनों और बौद्धों ने अपनी कला में प्रमुख प्रयोग किया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मथुरा तक्षण कला है। यह कोई आश्चर्यान्वित कर देने वाली बात नहीं है, क्योंकि 'चक्र' प्राचीन राजनीति-शास्त्र और हिन्दू जन विश्वासों में बहुत महत्त्व का स्थान रखता था। संस्कृत कोष 'चक्र' का अर्थ 'राष्ट्र' भी करते हैं। चक्र का भ्रम समझ लेने पर ही राजा-चक्रवर्ती पद का महत्त्व रखता था।

इस प्रकार कंकालीटीला के ये तक्षण इस बात का प्रमाणित करते हैं कि जैनों की प्राचीन कला बौद्ध कला से पृथक्त्व से अंतर नहीं रखती थी। दोनों संप्रदाय एक ही प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते, एक ही जैसे कलात्मक 'मोटिफ' और पवित्र प्रतीकों का प्रयोग करते थे। उनमें यदि विषमता थी तो छोटी-छोटी बातों में। यह प्रश्न हो सकता है कि एक संप्रदाय का मानने वाला दूसरे संप्रदाय की बातों को क्यों अपनाता है, इसके लिए कहा जा सकता है कि दोनों भारत की राष्ट्रीय कला से प्रभावित थे और एक ही कलाकार से अपनी चीजों का निर्माण कराते थे[१]।

(४) भारतीय कला की सर्वग्राहिकता

इन टिप्पणियों की आवश्यकता इसलिए अनिवार्य हो गई कि जिसे हम शक कला कहेंगे वस्तुतः शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से वह भी भारतीय कला है। दूसरी सदी ईसवी पूर्व से लेकर तीसरी सदी ईसवी तक की भारतीय कला उससे भिन्न शक-कला नहीं। वैसे साधारणतः तिथि क्रम और स्थानभेद के कारण हम शक-कला, कुषाण-कला आदि में

---

१ बूलर, एपि० इं० १। ३११।

द्वार था। इन छोटे कमरों को कुटी भी कहते थे। सारनाथ के विहार में बुद्ध की कुटी का नाम पीछे मूलगंधकुटी पड़ा और उसके विहार का नाम मूलगंधकुटी विहार। उन कुटियों के बीच बड़े चैत्यगृह में ठोस स्तूप होता अथवा संप्रदाय विशेष की पूजा-मूर्ति प्रतिष्ठित होती थी। हीनयान विहार के चैत्यों के सामने की दीवार पर अर्धचित्र में संप्रदाय का प्रतीक उभरा रहता था।

ईंट-पत्थरों से बने प्राचीन विहार तो अब नष्ट हो गये पर पर्वतों को काट कर बनाये प्राचीनतर विहार आज भी खड़े हैं। गोदावरी तट के निकट के प्राचीन नहपान विहार, लयण नं० ८, हीनयान संप्रदाय का था। उसके स्तम्भ तिकोने आधार और घट पर खड़े हैं और उनके शीर्ष घंटेनुमा आकृतियों से मंडित हैं। उनके भी ऊपर पिरामिड है, जिस पर वृषभ है, कार्ले के स्तंभों के अनुकरण में। नहपान विहार के अतिरिक्त इसी नहपान के अभिलेखों से युक्त दो अन्य विहारों का भी पता चलता है। एक है कार्ले का गुहाविहार और दूसरा है जुन्नर का।

नहपान विहार के अलंकार कार्ले के चैत्य-गृह में अधिक विकसित हैं। कार्ले की चैत्य भारतीय वास्तुकला के उत्कृष्टतम उदाहरणों में है। इस लयण के माप १२४×४५ फुट है। स्तूप दो वेदिकाओं से परिवेष्टित है तथा ऊपर का लकड़ी का पुराना छत्र अब भी सुरक्षित है। नासिक की तरह चैत्य-गृह का मुखड़ा दो तल्लों में विभाजित है। निचले तल्ले में तीन द्वार हैं तथा ऊपरी तल्ले में एक बड़ा अश्वनालाकार वातायन है। चैत्य-गृह के दोनों ओर गलियारे बनाते हुए स्तंभों की पंक्तियाँ हैं। इनके सिरे से उठती हुई काठ की तिल्लियाँ अश्वनालाकार छत का धारती थीं। नीचे के तल्ले में द्वारों के अंतरालों में मूर्तियाँ अंकित हैं। निचले दरवाजों के आगे निकलता हुआ एक दूसरा द्वार है जिसके बगल में कई तरह का वास्तु अलंकरण (इमारती सिलावट) अंकित है। इनमें उत्तम निचली इमारती सिलावट को हाथियों की

मूर्तियाँ अपनी पीठों पर सँभाले हुए हैं। पत्थर में बहुत से गड्ढे इस बात के साक्षी हैं कि सिंहद्वार के पहले कोई लकड़ी का दरवाजा रहा होगा। चैत्य के बाहर एक पत्थर से निर्मित ध्वजस्तंभ है।

प्रारंभ में कारीगर पत्थर के ऊपर लकड़ी के ढाँचे के रूप में अथवा पूर्णतः लकड़ी के विहार एवं चैत्य-मण्डप बनाते थे। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में पश्चिमी भारत के बौद्ध एवं जैनों ने ईसवी पूर्व तीसरी शती में अशोक द्वारा 'बराबर' नामक पहाड़ी में बनवाई। आजीविकों के गुहानिवासों के समान गुहाओं का निर्माण किया। इस गुहा के पुरोभाग में घोड़े के नाल के आकार के तोरण ही इसके एकमात्र अलंकरण हैं। इसमें संदेह नहीं कि ईसवी पूर्व दूसरी एवं पहली शताब्दी में भाजा, अजन्ता, पितलखोरा, नासिक एवं कार्ले आदि के चैत्य मण्डप बराबर की लोमश ऋषि की गुहा की अनुकृति में बनाये गये हैं। उनके पुरोभाग में भी नाल के आकार के तोरण हैं। परन्तु उनपर मानव आकृतियाँ एवं अन्य दृश्य अंकित करके उन्हें अधिक सुन्दर बना दिया गया है।

चैत्य मण्डपों की रचना ईसाई गिरजों से मिलती जुलती हुई होती है। बीच में सभामण्डप होता है, उसमें पृष्ठभाग पर ठोस स्तूप होता है। यह सब या तो चट्टान को काटकर बनाया जाता है या लकड़ी और ईंटों का बना होता है। सभामण्डप के चारों ओर प्रदक्षिणापथ होता है।

(ङ) मन्दिर

यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म तथा कला का ही विकास करने में संलग्न नहीं थे, बल्कि वे धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुता बरतते थे। इस काल में अन्य धर्मों की कला का भी विकास हुआ। भागवत-मन्दिरों और मूर्तियों का इस काल में निर्माण हुआ, इसका पता तत्कालीन अभिलेखों[1] से चलता है। यदि तक्षशिला जंडियाल पर

१ मे० आर्कि० सर्वे इंडिया ४। २६२।

दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि भगवान वासुदेव की प्रसन्नता के लिए तथा स्वामि महाक्षत्रप शोडास के राज्य के संवर्धन एवं विकास के लिए 'चतुःशाला', 'तोरण और 'वेदिका' का निर्माण किया गया[1]।

(ठ) लौकिक प्रकार

यदि शक-कालीन अभिलेखों पर दृष्टिपात किया जाय तो इसका पता चलेगा कि उस काल में जितना धार्मिक स्थापत्यों पर बल दिया जाता था उतना ही लौकिक स्थापत्य पर भी ध्यान दिया जाता था। वापी, तड़ाग, कूप, धर्मशाला आदि जनपान के दृष्टान्तों से शककालीन अभिलेख भरे पड़े हैं। ऐसा करना पुण्यकर समझा जाता था और अधिक संख्या में राज्य और राज्येतर व्यक्ति इन्हें खोदवाकर प्रस्तुत करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में सौराष्ट्र प्रान्त का राष्ट्रिय पुष्यगुप्त ने गिरनार पर्वत पर की नदियों को बाँधकर एक सुंदर झील बनवा दिया था। अशोक के काल में यवनराज तुषास्प ने उसे अनेक नालियों से अलंकृत कर दिया था, जिनका प्रयोजन जल का प्रवेश और निष्कासन रहा होगा[2]। यह झील प्रायः चार सौ वर्ष पश्चात् १५० ईसवी में टूट गयी। चार सौ बीस हाथ लम्बे, उतने ही चौड़े और ७५ हाथ गहरे छेद हो जाने के कारण इसका सब पानी निकल गया था। इन बातों से पता प्रतीत होता है कि तालाब अति विशाल रहा होगा। रुद्रदामन ने इसका पुनरुद्धार कराया और अब इसकी लम्बाई, चौड़ाई तिगुनी कर दी गयी[3]।

---

१ वसुना भगवतो वासुदेवस्य महास्थान चतुःशालं तोरणं वेदिकाः प्रतिष्ठापिता प्रीतो भवतु वासुदेव स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य संवर्तेयाताम् ।

२. एपि० इं० ८ । ४६ । प्रणालिभिरलंकृतं ।

३. वही ।

तालाब के तैयार कराने में माटी (मृत्तिका) और पत्थर (उपल) को काम में लाया गया था। इसके विस्तार और आयाम में पालि काओं (मीड्ज्म्स) को बनाकर उसकी मजबूती को और दृढ कर दिया गया था। उसकी संधियाँ सुश्लिष्ट थीं। सीढ़ियों की भी व्यवस्था थी।

अट्टालिका, उपतल्प, द्वार, शरण, चतुश्शाला, आराम, उदपान कूप आदि का भी निर्माण होता था। अट्टालिका, उपतल्प, द्वार, शरण आदि स्थापत्य कला संबंधी शब्दों को हम रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में पाते हैं।[1] उसी प्रकार चतुश्शाला, आराम, उदपान का वर्णन उषवदात के अभिलेख में मिलता है[2]।

(६) वस्त्राभूषण

सभी शक जातियों का प्रायः एक ही सा लिबास होता था। वे एक लम्बा ओवरकोट पहनते थे जो ठीक आजकल के 'मार्निंग कुर्ता' की तरह होते थे, जिस पर फर लगा होता था। पैर तथा कटि-प्रदेश को ढकने के लिए वे लम्बा जूता तथा सलवार पहनते थे। सिर पर वे टोपी भी रखते थे। टोपी ऐसी होती थी, जो उनके कान तथा गाल के कुछ हिस्से को ढके रहती थी। उनके बगल में एक लम्बा तलवार होता था जो उनके कमर पर एक बेल्ट के सहारे हमेशा लटका रहता था। उनके कमरबंद पर सोने का काम किया होता था। इस प्रकार का एक कमरबंद ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है, जो कि आमूदरिया की सुरवाली में प्राप्त एक निधि से मिली है। शकों का ऐसा वस्त्राभूषण उनके ठंडे प्रदेश के होने की ओर अनायास ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है। प्रोफेसर हर्जफेल्ड के अनुसार[3]

---

१ गिरि शिखर-तरु तटाट्टालकोपतल्प-द्वार-शरणोच्छ्रय।

२ एपि इं० ८। ११। ७८।

३ मे० आर्के सर्वे इं० ३४। ५।

ऐसा भेष प्रायः सभी शक जातियाँ बनाए हुए थीं जिससे मालूम होता है कि शक अपने देश को भूले नहीं थे। हमारे यहाँ भी पुरातत्त्व संग्रहालयों में सुरक्षित इन शकों के आदमकद स्टेच्यू और तस्वीरें प्रोफेसर हर्जफील्ड के कथित वाक्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं।



उपसंहार

शक विशाल स्कीथियन जाति की एक शाखा थे जिसका मूल निवास मध्यएशिया का भूमि प्रदेश था। यूइचियों के भय से उनको अपनी मूल भूमि को छोड़ना पड़ा। उनकी वह निवास भूमि जहाँ वे बसे 'शकस्थान' कहलाई। कालांतर में मिथ्रदात द्वितीय के भय से उन्हें वह स्थान छोड़ना पड़ा। बोलन दर्रे को पार कर वह सिंध में पहुँचे और उन्होंने वहाँ अपना डेरा डाला। उनका वह आवास 'शकद्वीप' कहलाया। इन शकों ने कालान्तर में, भारत में, कई राजवंशों की स्थापना की और भारतीय संस्कृति को प्रायः ६०० वर्षों तक पल्लवित एवं पुष्पित किया। सिंध, तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र और उज्जयिनी उनके शासन के केन्द्र बने। समूचा उत्तरी और पश्चिमी प्रदेश उनके अधिकार में आ गया।

उन्होंने पहले अपने को ईरानी पार्थव सम्राटों का 'क्षत्रप' कहा फिर वे 'महाक्षत्रप' कहलाए और अंत में 'शाहिशाहानुशाही'।[1] परन्तु एक दिन के लिए भी उनकी सत्ता ईरानी सम्राटों के अधीन नहीं रही, वे प्रारंभ से ही भारत में स्वतंत्र शासक की हैसियत से शासन करने लगे थे।

शकों का पश्चिम में उत्कर्षकाल तीसरी शती ईसवी तक था, यद्यपि वहाँ उनका राज्य चौथी शती के अंत तक बना रहा। दूसरी शती ईसवी में रुद्रदामन का शासनकाल उनकी शक्ति का परम उत्कर्ष था। सारे पश्चिमी जगत का भारतीय व्यापार उनके हाथ में आ गया और उनकी राजाई नगरी उज्जयिनी व्यापार, कला और विद्या का केन्द्र बनी। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम जाने

१ समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तंभ का प्रशस्ति लेख।

जाते वणिक्पथ उज्जयिनी ही में मिलते थे।

इस दीर्घकाल में अनेक प्रकार से उन्होंने यहाँ की राजनीति समाज, धर्म, भाषा-साहित्य और कला आदि को प्रभावित किया। इन्हीं की शक्ति से टक्कर लेने के कारण इस देश में विक्रमादित्यों की परंपरा चली।[1] एक ओर तो ये सातवाहन सम्राटों के साथ भूमि के लिए लड़ते थे, दूसरी ओर भारत की संस्कृति को सँवारते थे। शक इसी प्रकार से भारतीय हो चले थे। भाषा और साहित्य को उनकी संरक्षा से बड़ा आश्रय मिला। एक नई चेतना, एक नया उद्दीपन उस दिशा के साधकों को मिला।

हमारे संस्कृत साहित्य की अनेक कृतियों में उनके कृत्यों की प्रतिध्वनि उठी। गार्गी संहिता के युगपुराण में उन्हीं के शक सेनापति अम्लाट के पाटलिपुत्र पर भीषण आक्रमण का विवरण दिया हुआ है।[2] मगध पर शुंगों के पश्चात काण्वायनों का शासन हुआ था फिर उनके हाथ से दक्षिण के आंध्र सातवाहनों ने सत्ता छीन ली। किन्तु जब शकों के पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लेने पर आंध्रों को उस नई विपत्ति का अपने घर में ही सामना करना पड़ा, तब उधर का अधिकारसूत्र उनके हाथ से निकल गया। उसी समय शक अम्लाट ने मगध पर भीषण आक्रमण किया और मध्यप्रदेश को रौंदता पाटलिपुत्र तक आ पहुँचा। वहाँ उसने इतनी मारकाट की कि नगर और जनपद नरविहीन हो गए। युगपुराण के अनुसार उस नरसंहार के कारण पुरुष उस धरा से लगभग लुप्त हो गए। सारे कार्य स्त्रियों को ही करने पड़े। तलवार से लेकर हल तक उन्हीं के हाथों में आ गये। इससे उस काल की राजनीतिक उथल-पुथल का भी पता चलता है। इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका अंदाज लगाया जा सकता है। स्वाभाविक है कि वर्ण-व्यवस्था टूट गयी होगी और म्लेच्छ

१ भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० १७७-८४।

२. ज० बि० उ० रि० सो० १६।१८।६६।

बाहर आने के बावजूद विजयी होने के कारण शकों को समाज में निम्न स्थान स्वीकार नहीं हुआ होगा, जिससे उनको वर्णों के ऊपरले स्तर पर कहीं रखना पड़ा होगा। आज भी ब्राह्मणों में एक ऐसा परिवार मिलता है जो अपने को 'शाकद्वीपी' कहने में गर्व का अनुभव करता है।

शकों का इस देश की धर्म और कला पर असाधारण गहरा प्रभाव पड़ा। साधारणतः भी इतनी विभिन्न जातियों पर शासन करने के नाते उनको विश्वास व संबंध में सार्वभौम और उदार होना चाहिए था। इसीलिए उनके देवमण्डल में मध्यएशियाई देवता सूर्य, चंद्रमा और यूनानी देवी-देवताओं के साथ ही भारतीय बुद्ध की भी आकृतियाँ बनी हैं। ये ही सिक्के गुप्तों के सिक्कों के लिए आदर्श बने थे। गुप्त सिक्के कुषाणों के सिक्कों से प्रभावित थे, यह उनके सिक्कों को देखने से स्पष्ट मालूम पड़ता है।[1]

इस काल में बौद्ध धर्म के विशिष्ट संप्रदाय महायान का जन्म हुआ, जिसने भक्ति मार्ग के अनुकूल वैयक्तिक देवता का सृजन किया और परिणामस्वरूप भारत को बुद्ध की पहली प्रतिमा मिली। तत्काल भारतीय तक्षक यथोचित संख्या में बुद्ध की मूर्ति कोरने लगे। मथुरा तक्षण कला का केन्द्र बनी।

भारतीय कला की मुद्रा अधिकतर मूक, गम्भीर और चिन्तन प्रधान थी। इस विदेशी कुषाण भाव धारा ने उसे अपनी प्रसन्न मुद्रा प्रदान की। बुद्ध के मूक और शान्त रूप पर बोधिसत्त्व की अभिराम प्रसन्न छटा छिटकी।[2] स्तूप 'निर्वाण' के प्रतीक थे, पर उनको घेरने वाली रेलिंगों पर उत्कीर्ण अभिराम जीवन लहराता था और जीवन के उस उल्लास को महायान ने गति दी। स्तूपों की रेलिंग (वेष्टिनी, वेदिका) स्तंभों के शिखर पर और सामने संघाय

१ डा० अल्तेकर, बयाना होर्ड।
२. हि० आ० अ० इतिहास १।३१४।

भाल फलकों पर, हाथीदांतों पर जीवन उद्दाम बहा, उसके ऐसे प्रतीक उत्कीर्ण किए गए। वक्ष की डाल पकड़े झुकी शालभंजिकाएँ, मादक नग्न यक्षिकाएँ अनंत रूपों में अभिव्यक्त हुईं।

आज के हमारे राष्ट्रीय परिधान—अचकन और पाजामा—का मूल और अविकसित रूप पहले-पहल इस देश में शकों ने ही प्रस्तुत किया।[१] प्राचीन से प्राचीन काल में भी भारतवर्ष में वसन के क्षेत्र में केवल दो वस्त्र—धोती और शाल या चादर प्रयुक्त होते थे। आर्यों ने उष्णीष, नारी और नारियों के लिए एक प्रकार के कंचुक का प्रचलन किया। इनमें शायद आर्यों के मध्यएशियाई संपर्क का परिणाम थी। प्राचीन हिन्दू काल में भी प्रायः उष्णीष उत्तरीय और अधोवस्त्र का ही प्रयोग रहा। इनको बिना सिले ही प्रयोग में लाया जाता था। परन्तु पश्चात्कालीन यह सारी भारतीय वेष-भूषा जो आज राष्ट्रीय कही जाने लगी है, वास्तव में अभारतीय है और भारतीय इतिहास के विविध आक्रामकों की देन है। अचकन, जिसे मुगलों ने परिष्कृत कर प्रायः आज का रूप दिया वास्तव में प्रथम शती ईसवी में कुषाणों ने भारत में चलाया था।[२] कुषाणकालीन कुषाण-सैनिकों के वेश से यह स्पष्ट है। नागार्जुनीकोण्डा में प्राप्त एक शक सैनिक के वेश से यह प्रमाणित हो जाता है। पाजामा भी जिसका आधुनिक रूप मुसलमानों ने भारत में सँवारा, उन्हीं शकों की देन है। पगड़ी का कोई न कोई रूप सारे मध्यएशिया में प्रचलित रहा। भारत के प्रथम सूर्य प्रतिमा में हम इसी परिधान को परिलक्षित करते हैं। इस प्रकार का परिधान कोई भारतीय देवता नहीं पहनता, पगड़ी और जूते तो कभी नहीं। सूर्य की प्रतिमा कभी कंचुक धारण नहीं करती और यदि दूसरे हाथ में कमलदण्ड न होता तो मूर्ति का सम्भवतः शक

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, १।७०९।

२ भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० २९८।

या कुषाण नृपति की प्रतिकृति मान लेना स्वाभाविक था और एकाध विद्वानों को पहले यह भ्रम हुआ भी था।[1]

इस विदेशी संपर्क का भारतीय जीवन पर अपूर्व प्रभाव पड़ा। लोगों के सामाजिक दृष्टिकोण में अपूर्व अंतर पड़ा। जहाँ विदेशी भारतीय जीवन और विचारों से आकृष्ट होकर उनके धर्म और संस्कृति को अपनाने और उसकी साहित्य, कला संवारने लगे, वहीं समाज का एक भाग नई सामाजिक व्यवस्था के संगठन में लगा। स्मृतियाँ और धर्मशास्त्र नए सिरे से लिखे गए। उनके नए संस्करणों में वर्णों की पवित्रता की रक्षा के लिए उनके विधान और कठोर कर दिए। उनको नए अनुबंधों से जकड़ दिया, यद्यपि विदेशियों के निरंतर आघातों से वे जर्जर हो उठे थे। बाल-विवाह का विधान किया गया जिससे तरुण कन्याओं की विदेशी लुटेरों से रक्षा हो सके, क्योंकि पति का अपनी पत्नी की रक्षा कर सकना अनेक बच्चों वाले पिता की अपेक्षा सहज था। परंतु इन विधानों के रहते हुए भी पर्याप्त मात्रा में धर्मसंकट हो चुका था। धर्मसंकट रोकने के सारे प्रयत्न निष्फल हुए। क्योंकि विदेशी विजेता थे, उन्हें न तो अनुबंधों का डर था और न घोषित करने वाले अनुबंधकों का। इस प्रकार उनका भारतीयकरण होता जा रहा था। वे अपने को भारतीय समझने लगे थे। ब्राह्मण भी उनसे प्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणों को मात्रा में धन देकर सत्कार एवं उनको 'राजमाता' के पद पर आसीन किया। संभवतः उनके भारतीय विचारों के प्रति इसी प्रेम ने उनको पराजय में पतन किया। यह परंपरा शकों के आचरण में इतनी रूढ़ हुई कि जब गुप्तों के प्रयत्न से उनको देश छोड़ना पड़ा और प्रयाग स्तंभ के समुद्रगुप्त के लेख में उन्हें कानूनी आधार पर निर्दिष्ट किया तब से दक्षिण के उत्तरवर्ती काल में 'शाहि' राजकुल के रूप में उन 'शाहिशाहानुशाहि राजपुरुषों' ने भारत के सिंह द्वार की उनके आक्रान्ता हूणों से १०वीं —११वीं सदी तक रक्षा की।

---

१ कुमारस्वामी, हि० इ० इण्डो० आर्ट, प्लेट १८ चित्र ६४।

शक-अभिलेख

१

मैरा अभिलेख

भाषा प्राकृत तिथि : ५८ (१० ई पू०)

लिपि : खरोष्ठी

क

१ संवत्सरिये चतुपुरतीविवतर

२ अतिवतन यपदन

ख

१ ... ...यात ...... सम २० २ १० ४४ ।

२ रुप .. १० ११...

३ ....मि अमवामि विव

का० ई० ई०, कोनो, भाग १, पृ० ११ ।

२

दमिजद का शाहदौर लेख

भाषा : प्राकृत तिथि : ६० (६५ ई पू०)

लिपि : खरोष्ठी

१ रजनी दमिजदस सकस....गप्दिसप २०२०२

समपुस सवणवसीय सय च

२ मित्रधनपुत्र हित विप्रमतप्रवर

का० ई ई०, कोनो, भाग १, पृ ११ ।

३
पतिक का तक्षशिला ताम्रपत्र-लेख

भाषा : प्राकृत

लिपि : खरोष्ठी   तिथि : ७८ (७७ ई० पू०)

१ (संवत्स) रये अठसततिमए २०२०२०१०४४ महरयस मह्ंतस (मो) गस प (ने) मस मसस दिवसे पंचमे ४१ एतये पूर्वये छहर (स)

२ चुक्सस च क्षत्रपस लिअको कुसुलुको नम तस पुत्रो (पतिको) तक्षशिलय नगरे (।) उतरेण प्रचुदेशो क्षेम नम (।) अत्र

३ (प) रो पतिको अप्रतिठवित भगवत शकमुनिस शरिरं (प्रति-) पनति) (स) घरमं च सर्व-बुधन पुयए मत पितरं पुयय (ता)

४ क्षत्रपस स-पुत्र दरस अयु-बल-वर्धिए भ्रतर सर्व (च) (ञतिग) (बं) धवस च पुयएता (।) महदनदनि पतिक सन उप (ध्य) ए (नि)

५ रोहिणिमित्रेण य इमे (मि ?) संघरम नवकमिक (॥)

६ पतिक सघर सिरमक (॥) कॉ० इं० नम्बर ४   पृ० ५५ ।

४
मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख

भाषा : शौरसेनी प्राकृत

लिपि   खरोष्ठी   तिथि : (लगभग २२ ई० पू०)

मु प—१

अ (क)

१ महन (स) अग रजुलस

२ अग्रमहेषि अयसिअ

४ लरें (हें) मोत्तस पुत्तरस
५ मम नदाहि (हि ?) मकस (?)
म (ल)
६ सम मम मनुदोस (प)
७ मिममहि मिरमसिम प्र—
८ म रमुप्तरन सम हन मि (म)
९ मलेठरेल होरक-म-
१० रिमरेन हम मधुसि-मने
११ [illegible] निक्तिमे मारिर प्रभिठमिमो
१२ मकमको शाक्मुनिस पुमत
१३ म (?) कि हि (?) रमत रम [म] पुतमित (?)
१४ पुम म समरम म मनु
१५ मिमम समस मर्म
१६ स्तिमभन परिमते

म

१ कहुर म
२ मत्तो [।]

स

१ नवहुमो [।]

मु प—९

द

१ महदमवत
२ मझुलस्य पुत्र
३ गुरुसे समभे

म (म)

१ नरें (ह) मोस्तो पुमरस
२ लासमत फुमर

६

३ मम कनिठ
४ समनमोष

घ (ब)

१ क्र करित

क और ख

१ समरिश्चस
२ सुचवेल
३ उसपन अविमित (त ?)

द

१ गुहमिहर

द (अ)

१ समदन (?)

फ

१ सुभिलस मकरसस
२ मिगुस सर्वस्तिवमस [।]

म

१ महप (स) सम्य कुसुलसस परिकर्म मेव (?) किन
२ मिमिकठ सवसत पुयए [॥]

द (अ)

१ कमुदरो [।]

मु१—२
म

१ सगरे गुहिसे
२ इमा पदृवि
३ प्रभो

य

१ वेपउदिन कपारा मुजर

२ रो कप
३ मरो
४ भिरउ

ख (१—२)

१ दं..........पशिशिन (१)
२ निखिमी करित नियभिमी

ख (३)

१ सपस्तिपमन परि (१) मते

न

१ समरिमस सुभिसस नकरकस भिसु
२ स सर्वस्तिपमस पम
३ न महसभिमन म
४ व (१)म भिमवे लहुसस [॥]

मो

१ सर्वंसुपन सुप [।] समस
२ सुप [।] सपस सुप [।]

प

१ सर्वस समस्त
२ नस सुपए [।]

च

१ मरसस
२ सुपस [।]

र

१ र (स १) सिलस
२ कानिनस [।]

ख (च)

१ नाकरमु—
२ सा [।]

लिलेकर ईरुप्पाम्स, डी॰ सी॰ सरकार सं॰ १ पृ॰ ।

❀

५

मोरा कूप लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी । तिथि : (लगभग २२ ई० पू०—१४ ई० पू०)

१ महाक्षत्रपस राजुवुलस पुत्रस स्वामि....
२ भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमाः शैलदेवगृ..
३ यस्तोशायाः शैलं श्रीमद्गृह अतुलम उदवसधार...
४ अर्चादेशां शैलां पंच ज्वलत इव परमवपुषा....

जा० उ० प्र० हि० सो० खण्ड १४—१५ पृ० ११० ।

६

मथुरा आयागपट्ट लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी　　　　　　　　तिथि : ७० (१४ ई०)

१ नम अरहतो वर्धमानस (।)
२ स्व (।) मिस महाक्षत्रपस शोडासस ( ) वत्सरे ७० हेमंत मासे दिवस हरिति पुत्रस पालस भयाये समन (नं) स (।) विकाये
३ कोछिये अमोहिनिये सहा पुत्रे हि पालघोषेन पोठघोषेन धन-घोषन आयवति (प्र) तिथापिता प्रियं....
४ आयवति अरहत पूजाय (॥)

एपि० इं० खण्ड २ पृ० १९८ ।
एपि० इं० खण्ड ६ पृ० २०१—४४ ।

७

शोडास के समय का मथुरा प्रस्तर लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी   तिथि : (लगभग १५ ई० पू०)

१ स्वामिस्य महाक्षत्रपस्य शोडासस्य गंजवरेण ब्राह्मणेन सेगव-सगोत्रेण (पुष्क)
२ रणि इमाएरो यमज-पुष्करणीनं पश्चिमा पुष्करणि उदपानो आरामो स्तम्भो इ (मो)
३ (शिला) पट्टो च ...... (॥)

एपि० इं० खण्ड ९ पृ० २४७ ।



शोडास के समय का मथुरा प्रस्तर लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी   तिथि : (लगभग १५ ई० पू०)

६. यमुना भगव (तो वासुदे)
७ वस्य महास्थान ...(चतुःशा)
८. लं तोरणं वे (दिका प्रति)
९. ष्ठापितो प्रीता भ (वतु वासु)
१० देवः स्वामिस्य (महाक्षत्र)
११ पस्य शोडास (स्य)
१२ संवर्त (`) यातम् ।

मे० आर्के० सर्वे ई० नं० ५, पृ० १६९ ।

९
मथुरा में प्राप्त जैन-मूर्ति पर लेख

भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि ब्राह्मी
तिथि अज्ञात

१ नमो अरहतो वधमानस्य गोतिपुत्रस पोठयशक
२ कालवालस
३ कोशिकिय शिमित्राय अयागपटो प्र

एपि० इ० गं १ न० ३३ पृ ३९६ ।

१०
मथुरा-जैन-मूर्ति-लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि ब्राह्मी तिथि अज्ञात

१ सिद्धम् । नमोस्त्वर्हद्भ्यः
२ महाराजमहाराजस ....

एपि० इ० गं० २ नं० ३ पृ० २०६ ।

११
कनिष्क का बौद्ध मूर्ति पर अंकित लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी
तिथि ३ (८१ ई०)

(१)

१ महाराजस्य कणिष्कस्य सं ३ हे ३ दि २०२
२ एताय पूर्वये भिक्षुस्य पुष्यवुद्धिस्य सध्येविं
३ हारिस्य भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य
१२

श्री

४ बोधिसत्वो छत्रयष्टि (श्च) प्रतिष्ठापितो
५ वाराणसिये भगवतो च ( ) क्रमे सहा मात
६ पितिहि सहा उपध्यायाचेर्येहि सद्धेविहारि
७ हि अंतेवासिकेहि च सहा बुद्धमित्रये त्रैपिटिक-
८ ये सहा क्षत्रपेण वनस्परेन खरपल्ला-
९ नेन च सहा च च (तु) हि परिषाहि सर्वसत्वनं
१ हितसुखार्थ (॥)

(२)

१ भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो ।
२ महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन क्षत्रपेन वनष्परेन ॥

(३)

१ महाराजस्य क (निष्कस्य) सं ३ हे ३ दि २ २
२ एतये पूर्वये भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिट (कस्य)
३ बोधिसत्वो छत्रय (ष्टि) (च) (प्रतिष्ठापितो ।)

एपि० इं० भा० ८ पृ० १७३ ।

१२

नहपान-वंश के अभिलेख

नासिक गुहाभिलेख (अ)

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी   तिथि : ४१, ४२, ४५ (११९, १२०, १२३ ई०)

१ सिधं [॥] वसे ४० २ वेसाख-मासे राञो क्षहरातस क्षत्रपस
नहपानस जामातरा दीनीक पुत्रेन उषवदातेन संघस चातुदिसस
इमं लेणं नियातितं [।] दत चानेन अक्षय-निवि काहापण-सहस्रा
२ नि त्रीणि ३००० संघस चातुदिसस ये इमस्मिं लेणे वसंतान

[ ] मनिर्थति सिवरिक कुशास्थमूले च [।] एते च कारर
प्रभुवा गोवर्धने वायवासु भेषितु [।] कोसोक-निकाये १००
इपि पतिक-शत अपर-कोसोक-निका—
[illegible] ये १०० वाच पा [मू] न-[प] तिक शत [।] एते च
कहारणा [च] पडिरातवा चपि मोभा [।] एतो सिवरिक
सहस्रानि ये २००० ये पडिक शते [।] एतो मम लेणे वस्तुमान
मिपुलं वीत [।] च एकीकम सिवरिक बारसक [।] च सहस्र
प्रयुतं पायुन-पडिक शतं पतो कुशन—
मस [।] कापूराहारे च मामे चिखलपद्रे दत्तानि नाडिगेरान मुल
नरमा।य मर ८० ० [।] एव च सव मावित [नि] गम
समाय निवध म फलकवारे चरित्रतो ति [।] मूयोनेन दतं वसे
४०१ कार्तिक-शुध पनरस पुवाक वस ४०५
पनरस निपुतं भगवता [ ] देवानं ब्राह्मणानं च कारापण-सर
स्ताणि सतरि ७०० प [ ] पादि [ ] शक सुवण कृता दिन
सुवर्ण-सहस्रपो मूल्यं [॥]
फलकवारे चरित्रता ति [॥]

एपि० इं० नं० ८ नं० ११ पृ० ८२ ।

नासिक गुहाभिलेख (ख)

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी
तिथि : (११६—२४ ई०)

१ सिद्धम् [॥] राज्ञः क्षहरातस्य नहपानस्य जामाता दीनीकपुत्र उ
उषवदातेन त्रिगोशतसहस्रदेन नद्या बार्णासायां सुवर्णदानतीर्थकरेण
देवेभ्य ब्राह्मणेभ्यश्च षोडशग्रामदेन अनुवर्ष ब्राह्मण शत
साहस्रीभोजापयित्रा
२ प्रभास पुण्यतीर्थे ब्राह्मणेभ्य अष्टभार्याप्रदेन भरुकच्छे दशपुरे
गोवर्धने शोर्पारगे च चतुशालावसधप्रतिश्रयप्रदेन आरामतडाग

उदपानकरेण इबा-पारादा-दमण-तापी-करबेना (दा)-दाह
नुका-नावा पुण्यतरकरेण एतासां च नदीनां उभतो तीरं सभा—
३ प्रपाकरेण पींडीतकावडे गोवधने सुवर्णमुखे शोर्पारगे च रामतीर्थे
चरकपर्षभ्यः ग्रामे नानंगोले द्वात्रीशतनालीगेरमूलसहस्रप्रदेन गोव
र्धने त्रिरश्मिषु पवतेषु धर्मात्मना इदं लेणं कारितं इमा च पोढियो
भटारका अंञातिया च गतोस्मि वर्षारतुं मालये [हि] रुधं उत
मभद्रं मोचयितु
४ ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं क्षत्रियानं सर्वे
परिग्रहाकृता ततोस्मि गतो पोक्षरानि तत्र च मया अभिसेको कृतो
त्रीणि च गोसहस्त्रानि दतानि ग्रामो च दतं चानेन क्षेत्रं ब्राह्म
णस वाराहिपुत्रस अश्विभूतिस हथे कीणितं मुलेन काहापणसह
सेहि चतुहि ४००० य सपितुसतक नगरसीमाय उतरापराय दीसाय
एतो मम लेणे वस—
५ तानं चातुदीसस भिखुसंघस मुखाहारो भविसति

एपि० इं० खं० ८ नं० १५ पृ० ७८ ।

नासिक गुहाभिलेख (स)

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी तिथि : (११९-२४ ई०)

१ सीधं [॥] राञो क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस दीहि
२ तु [दीनीक पुत्रस उषवदातस कुटुबिनिय दखमित्राय देयधम
ओवरको [॥]

एपि० इं० खं ७ नं० ११ पृ० ८११ ।

नासिक गुहाभिलेख (द)

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी तिथि (११९ २४ ई०)

१ सिद्धम् राजा क्षहरातस क्षत्रपस नहपान
२ स दहित्र दीनीक पुत्रस उषवदातस
३ कुटुंबिनिय दखमित्राय देयधंम ओवर को

एपि० इं० सं० ८ नं० ११ पृ० ८५।

नासिक गुहाभिलेख(   )

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी   तिथि : (११९ २४ ई०)

१ — टस क्षत्रपस नहपानस जामा—
२ — शकस उषवदातस नेस्पेनु
३ — वेविम दाहनूकानगर केकापुरे
४ —ए अनुगामिमि उजेनिय सम्भाय
५ तो ब्राह्मणा भुजते भतलार—
६ दता ब्राह्मणानं गवां शतस
७ — भगवता देवान ब्राह्मणानं च दता
८ —चेत्रसुध पनरस सहता—
९ —गवा । द महसेन उप—
१० —महाय बणाख्या द—
११ —सुवण तिम च भयते तत
१२ ....

एपि० इं० सं० ८ नं० १४ (ब) पृ० ८५-८६।

१३
कार्ले-गुहाभिलेख (अ)

भाषा : प्राकृत
लिपि : ब्राह्मी   तिथि : (११९ २४ ई०)

१ सिधं [॥] रञो महरातस क्षत्रपस नहपानस जा [म] तरा
[दीनीक] पुत्रेन उषवदातेन ति



३ गो सतसहस [दे] ना नदिया बणासाया [सु] वण [ति] थकरेन (देवतान) ब्रह्मणान च सोळस गा—
३. म-दे (न) पभासे पुत-तिथे ब्रह्मणाण, अठ-भाया-प (देन) [व] सुवासं पितु सतसहसं भो—
४ जपयित वलूरकेसु लेण-वासिनं पवजितानं चातुदिसस सघस
५. मामजन गामो [क] रजिको दतो स [वा] न [वा] स वासि तानं

एपि० इं० वॉ० ७ नं० ११ पृ० ५७ ।

कार्ले गुहाभिलेख (ख)

भाषा : प्राकृत
लिपि : ब्राह्मी तिथि : (११९-२४ ई०)
१ सेतुफरणा उसभदत पुतस मितदे—
२ वसकस धमो दानं

एपि० इं० वॉ० ७ नं० ११ पृ० ५१।

१४
जुन्नर गुहाभिलेख

भाषा : प्राकृत
लिपि : ब्राह्मी तिथि : ४६ (१२४ ई०)
१ [राञो] महाखतपस सामि-नहपानस
२ [अ] मतस वछ-सगोतस अयमस
३ [दे] [यधम] च [पो] ढि मटपो च पुञथ वासे ४०+६ कतो [॥]

आर्के० सर्वे व० इं० खण्ड ४ पृ० १०३ ।



चष्टनवंश के अभिलेख

१५

अन्दउ प्रस्तर लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी

तिथि ५२ (१३० ई)

(१)

१ [राज्ञो] [चाष्ट] नस य्सामोतिकपुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदाम पुत्रस
२ व [र्षे] द्वि [ ] चाश [५०] २ फगुण बहुलस व (द्वि) तिय व २ मदनेन सीहिल पुत्रेन [भ] गिनिय जेष्टवीराय
३ [सी] हि [ल-पि] त आत्मनि च गोत्राय लष्टि उपापित

(२)

१ राज्ञो च [ा] ष्टनस य्सामोतिक
२ पु [त्र] स राज्ञो (रु) द्रदामस
३ जयदाम पुत्रस वर्षे द्वि-पं
४ [चा] श ५० २ फगुण बहुलस
५ द्वितियं व २ ऋषभदेवस
६ सीहिल पुत्रस आत्मनि-च-गोत्रस
७ भात [ा] मदनेन [सीहि] ल पुत्रेन
लष्टि उपापित

(३)

राज्ञो चाष्टनस य्सामोतिक पुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदाम पुत्रस
वर्षे द्वि-पंचाश ५० २
फगुण बहुलस द्वितिय वा २ यशदताय ओपशतिस धीता आनिक
(शिनिक) सगोत्राय यामदतिय
मदनेन सीहिल पुत्रेन कुटुंबिनिये [लष्टि] उपापिता

(४)

१ राज्ञो चाष्टनस य्सामोतिक पु [त्रस] [राज्ञो] रु [द्रदामस]
जयदाम
२ पुत्र [स] वर्षे ५ २ फगु [न] बहुलस द्वितियं व २
३ ऋषभदेवस श्रेष्ठदत्त-पुत्रस ओपशति-गोत्रस
४ सिह [।] श्रेष्ठदत्तेन भामया [`] रेन लष्टि उथापित

एपि० इं० खं० १६ पृ० २३ प्र० ।

( )

१६

रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़-प्रस्तर-लेख

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी तिथि : ७२ (१५० ई०)

१ सिद्धं [।] इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद [पि]..
[दूरा] न्तर-विस्तारा यामोच्छ्राय-निःसन्धि-बद्ध-दृढ-सर्वपाली-कत्वा
त्पर्वत-पा-

२. द-प्रतिस्पर्धि-सुश्लिष्ट [ब] [न्ध]. [वा] जातेनाकृत्रि
मेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्रतिविहित-प्रनाली-परीवाह

३ मीढ विधानं च त्रिस्क [न्ध] ..नादिभिरनुग्र [है] र्महत्यु
पचये वर्तते [।] तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सुगृही—

४ त-नाम्न : स्वामि-चाष्टनस्य पौत्र [स्य] [राज्ञ : क्षत्रपस्य
सुगृही तनाम्न : स्वामि जयदाम्न] : पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरु-
भिरभ्यस्त-नाम्नो रु [द्र] दाम्नो वर्षे द्विसप्तति [त] ७ २

५. मार्गशीर्ष-बहुल प्र [ति] [पदि]..सृष्टवृष्टिना पर्जन्येन
एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरेरूर्जयत : सुवर्णसिकता—

६ पलाशिनी प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रोद्वृत्तैर्वेगै : सेतुम....
[यमा] णानुरूप-प्रतीकारमपि गिरि-शिखर-तरु-तटाट्टालकोपत [ल्प]
द्वार-शरणोच्छ्रय-विध्वंसिना युगनिधनसद—

श-परम-घोर-वेगेन वायुना प्रमथि [त] सलिल-विक्षिप्त जर्जरीकृताव [दी]र्[ण]...[क्षि] प्ताश्म-वृक्ष-गुल्म-लताप्रतानं आ नदी [त] लादित्युद्घाटितमासीत् [।] चत्वारि हस्तशतानि वीशदु त्तराण्यायतेन एतावन्त्येव [वि] स्ती [र्णे] न

८ पंचसप्तति-हस्तानवगाढेन भेदेन निस्सृत-सर्व-तोयं मरु धन्व कल्पमतिभृशं दु [र] [।] [स्या]र्थे मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र [गुप्तस्य] राष्ट्रियेण [वै]श्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य [कृ]ते यवनराजेन तु [षा] स्फेनाधिष्ठाय

९ प्रण [ा] लीभिरलं [कृतं] [।] [त] त्कारित [या] च राजानुरूप कृत-विधानया तस्मि [न्] भेदे दृष्टया प्रणाड्या वि [स्]त [सेतु]... आ गर्भात्प्रभृत्य [वि]हतसमुदि [त रा]जलक्ष्मी धारणा-गुणतस्सर्व वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन [आ] प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्ति-कृत—

१० सत्यप्रतिज्ञेन अन्य [त्र] संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु प्रहरण वितरणत्वाविगुण रि [पु]...त-कारुण्येन स्वयमभिगत जनपद प्रणिपतित [आ] [यु] ष शरणदेन दस्यु-व्याल-मृग-रोगादिभिरनुप सृष्टपूर्व-नगर निगम—

११ जनपदानां स्ववीर्यार्जितानामनुरक्त-सर्व प्रकृतीनां पूर्वापर आकरावन्त्यनूपनीवृदानर्त-सुराष्ट्र श्व [भ्र मरु कच्छ सिन्धु-सौवीर] कुकुरापरान्त निषादादीनां समग्राणां तत्प्रभावाद् [यथावत्प्राप्त धर्मार्थ]-काम विषयाणां विषयाणां पतिना सर्वक्षत्राविष्कृत—

१२ वीर शब्द जा [तो] त्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथ पतेस्सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य संबंधा [वि] दूर [त] या अनुत्सादनात्प्राप्त-यशसा [माद]... [प्राप्त] विजयेन भ्रष्टराज प्रतिष्ठापकेन यथार्थ-हस्तो

१३ च्छ्रयार्जितोर्जित धर्मानुरागेण शब्दार्थ-गान्धर्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण धारण विज्ञान-प्रयोगावाप्त-विपुल-कीर्तिना तुरग

(४)

१ राज्ञो चाष्टनस स्वामीतिक पु [त्रस] [राज्ञो] क [षामस] जयदाम

२ पुत्र [स] वर्षे ५० २ फगु [न] बहुलस द्वितिय व २

३ ऋषभदेवस श्रेष्ठदत्त-पुत्रस ओपशति-गोत्रस

४ सिंह [।] सेन्हदत्तेन भ्रात्रस [`] रेन लष्टि उथापित

एपि इं० वॉ० १६ पृ० २३-२५।

१६

रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ प्रस्तर-लेख

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी तिथि : ७२ (१५० ई०)

१ सिद्धं [।] इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद [पि]... [मति] कौपल विस्तारा यामोच्छ्रय-निःसन्धि-बद्ध-दृढ-सर्वपाली-कत्वा पर्वतपा-

२ द-प्रतिस्पर्द्धि-सुश्लिष्ट [बन्ध] [मयं] [जा] तेनाकृत्रिमेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्रतिविहित-प्रणाली-परीवाह

३ मीढ विधानं च त्रिस्क [न्ध]... नादिभिरनुग्र [है] र्महत्युपचये वर्तते [।] तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सुगही—

४ त-नाम्न : स्वामि-चष्टनस्य पौत्र [स्य] [राज्ञ : क्षत्रपस्य सुगही तनाम्न : स्वामि जयदाम्न] पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्त-नाम्नो रु [द्र] दाम्नो वर्षे द्विसप्तति [म] ७० २

५. मार्गशीर्ष-बहुल प्र [ति] [पदि]... सृष्टवृष्टिना पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृताया गिरेरूर्जयत : सुवर्णसिकता—

६ पलाशिनी प्रभृतीना नदीना अतिमात्रोद्वृत्तैर्वेगै : सेतुम... [यमा] णानुरूप प्रतीकारमपि गिरि-शिखर-तरु-तटाट्टालकोपतल्प [द्व] द्वार शरणोच्छ्रय-विध्वंसिना युगनिधनसदृ—

• श-परम-घोर-वेगेन वायुना प्रमथि [त] सलिल-विक्षिप्त
जर्जरीकृताव [दी] [र्ण]...[क्षि] प्ताश्म-वृक्ष-गुल्म-लताप्रतान
आ नदी [त] लादित्युद्घाटितमासीत् [।] चत्वारि हस्तशतानि वीशदु
त्तराण्यायतेन एतावत्येव [वि] स्ती [र्णे] न

■ पंचसप्तति-हस्तान्यवगाढेन भेदेन निस्सृत-सर्व-तोयं मरु धन्व
कल्पमतिभृशं दु [द] [।] [र्द] र्शे मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र
[गुप्तस्य] राष्ट्रियेण [वै] श्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्य
स्य [कृ] ते यवनराजेन तु [षा] स्फेनाधिष्ठाय

■ प्रणा [।] लीभिरलं [ ]कृतं] [।] [त] त्कारित
[या] च राजानुरूप कृत-विधानया तस्मिं [भे] दे दृष्टया प्रनाड्या
वि [स्तृ] त स [तु] ...गा ... गर्भात्प्रभृत्य वि [ह] तसमुदि [त
रा] जलक्ष्मी-धारणा-गुणतस्सर्व वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन
[आ] प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्ति-कृत—

१ सत्यप्रतिज्ञेन अन्य [त्र] संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु-
प्रहरण-वितरणत्वा विगुण रि [पु]... त-कारुण्येन स्वयमभिगमजन-पद
प्रणिपति [ता] [यु] प शरणदेन दस्यु-व्याल-मृग-रोगादिभिरनुप
सृष्टपूर्व-नगर निगम—

११ जनपदानां स्ववीर्यार्जितानामनुरक्त-सर्व-प्रकृतीनां पूर्वाप
राक राकनूपनीवृदानर्त-सुराष्ट्र श्व [भ्र मरु-कच्छ-सिन्धु-सौवी]
र कुकुरापरान्त निषाद-दीनां समग्राणां तत्प्रभावाद [यथावत्प्रा
प्तधर्मा]-र्थकाम विषयाणां विषयाणां पतिना सर्वक्षत्राविष्कृत—
१२ वीर शब्द जा [ता] त्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन
दक्षिणापथ पतेस्सातकर्णेरपि-नीर्व्याजमवजीत्यावजीत्य संबंधा
[वि] दूर [त] या अनुत्सादनात्प्राप्त-यशसा [माद]...
[प्राप्त] विजयेन भ्रष्टराज प्रतिष्ठापकेन यथार्थ-हस्तो
१३ च्छ्रयार्जितोर्जित-धर्मानुरागेन शब्दार्थ-गान्धर्व-न्यायाद्यानां विद्यानां
महतीनां पारण धारण विज्ञान प्रयोगावाप्त-विपुल-कीर्तिना तुरग-

गज-रथचर्य्यासि-चर्म नियुद्धा... ति परबल-लाघव-सौष्ठव क्रियेण अहरहर्दान-मानान—

१४ वमान शीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः कनक-रजत-वज्र-वैडूर्य-रत्नोपचय विष्यन्दमान-कोशेन स्फुट-लघु-मधुर चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारा लंकृत-गद्य-पद्य [काव्य-विधान प्रवीणे] न प्रमाण-मानोन्मान-स्वर-गति-वर्ण-सारसत्वादिभिः

१५. परम-लक्षण-व्यंजनैरुपेत-कान्त-मूर्तिना स्वयमधिगत महाक्षत्रप नाम्ना नरेंद्र क [न्या] स्वयंवरानेक-माल्य प्राप्त-दाम्न [ा] महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गो-ब्रा [ह्म] [णा] [र्थ] धर्म्मकीर्तिवृद्धयर्थं च अपीडयि [त्व] कर-विष्टि

१६ प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुण-दृढतर विस्तारायाम सेतु विधा [य स] र्वत [टे] ...[सु] दर्शन-तरं कारितमिति [।] [अस्मि] न्नर्थे

१७ [म] हा [क्ष] त्र [प] स्य मतिसचिव-कर्मसचिवैरमात्य गुण-समुद्युक्तैरप्यतिमहत्वाद्भेदस्यानुत्साह विमुख मतिभि [:] प्रत्याख्यातारम्भ [ ]

१८ पुनः—सेतुबन्ध नैराश्याद्धाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौर जानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त-सुराष्ट्राणां पाल नार्थनियुक्तेन

१९. पह्लवेन-कुलैप-पुत्रेणामात्येन-सुविशाखेन यथावदर्थ धर्म-व्यवहार दर्शनैरनुरागमभिवर्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्येणा हार्येण

२० स्वधितिष्ठता धर्म-कीर्ति-यशांसि भर्तुरभिवर्धयतानुष्ठित [मि] ति

एपि० इं० जि० ८ पृ० ४२ ।

१७

जीवदामन प्रथम का जूनागढ़ लेख

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी तिथि : १०० (१७८ ई०)

१ ...[च] ष्टनस्य स्व [ा] मि जीवदामस्य प्रपौत्र पुत्राणां वर
[ा] १०० ...

२ ... [च] ष्टनसत्य फाल्गुन [म] हिकस्य ब [हु] लस्य
कस्य रामकस्य पुत्र [ा] ...

एपी० इं० भा० १८ पृ० ३४

१८

रुद्रसिंह प्रथम का गुण्डा-लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी तिथि : १०३ (१८१ ई०)

१ सिद्ध [ ] राज्ञो महाक्षत्र [पस्] य स्वामि चाष्टन प्रपौत्रस्य राज्ञो
क्षत्रपस्य स्वामि जयदाम पौत्रस्य

२ (स्य) राज् [ञो] महाक्षत्रपस्य स्व [ा] मि-रुद्रदाम पुत्रस्य
राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामि रुद्र

३ सीहस्य [व] र्षे [त्] तृतीये १०० ३ वैशाख शुद्धे पञ्चम
[धि] धन्य तिथौ र [हि] णि नक्ष

४ त्र मुहूर्त आभीरेण सेनापति बापकस्य पुत्रेण सेनापति-रुद्र
[भू] तिना ग्राम रसो

५ [प] द्रिय वा [पी] [ख] नि [तो] [बन्ध] ापितश्च
सर्वसत्वानां हित सुखार्थमिति

एपी० इं० भा० १६ पृ० २३५

६९

जयदामन के पौत्र का जूनागढ़-प्रस्तर लेख

भाषा : संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी   तिथि अज्ञात्

स्वपा मुरगयेन [घुमा] वां मध [म]...

... चाष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्ष [त्रप] स्य-स्वामि-जयदाम

[पौ] त्रस्य राज्ञो म [हाक्ष].

[चैत्र] शुक्लस्य दिवसे पंचमी ५ १ [ह] गिरिनगरे देवासुर

नाग-य [क्ष] रा [क्ष] से

...नपा [पु] रमिव केवलि-[ज्ञा] न-सं (प्राप्ता) नां

जरा मरण

एपि० इं० वां १६ पृ० २४१।

७०

रुद्रसेन प्रथम-गारहा (जसदन) प्रस्तर-लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत

लिपि : ब्राह्मी   तिथि : १२७ (२०५ ई०)

१ [व] र्षे १०० २ [७] [मा] द्रपद-बहुलस ५ २ [।]

भो महस [म] पस

२. भद्रमुखस स्वम् (स्वामि) चाष्टनपुत्रपौत्रस्य राज्ञो क्ष [त्र] पस

३ स्वामि ज [य] द पुत्र-पौत्रस्य राज्ञो महा-क्षत्रपस्य भद्र मुखस्य

४ [रुद्र] म स्द [ह] दाम पो [त्र] स्य राज्ञो म [ह] क्ष [त्र] पस्य भद्र-मुखस्य स्वा [मि]

रुद्रसीह [पुत्र] स्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामि रुद्रसेनस्य इदम् दान

१ मानस-स-गोत्र [स] स्य प [ता] शक-पुत्रस्य नर [र]
परयस्य माप्रमि : उत्पवित [ ] स्य [र्गं]

७ ..

एपि इं० गं० १६ पृ० २३८ ।

२१

स्वामि जीवदामन का कानखेरा-लेख

भाषा : प्राकृत मिश्रित संस्कृत
लिपि : ब्राह्मी तिथि : २०१ (१७६ ई०)

१ सिद्ध ॥ भगवतस्विरस्य् गण-सेनापतेरभिनमनस्य स्वामि
महासेन महादेव आदित्यमीष्य जीवदाम..

२ धर्मविजयन शकनन्द्रपुत्रेण महादण्डनायकेन शकन श्रीधरव
[र्म्मे] णा धर्म...सा [भि] स्वराज्याभिवृद्धिकर धर्मवि के
व [ ] स्थाने पयोधाम [`]

३ भवप-कुलस्य स्वामी- पूगकमवादित्वं कल्याणाभ्युदय-वृद्धय
र्थमक्षयस्सम्म स्वामिमेतद्धर्मयशोर्थं धम्मामिनंपुरुषा-भाद..

४ शाशाव मनु : धत्त...गुकोरम...इ...मारि...कारि (ज)
प म वलित : धर्माधिपत्य : नदा

५ नस्ताना [ ] त्रिय स्थली जल निषिद्ध भ्यामय :...गत : ...
प्य...माप्य्

६ हे [प] श्री परवम्मणा गुप्ताता गानारिमोर्य गुप
१००१...मृ..एत...

एपि० इं० गं० १६ पृ० २३२ ।

कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। सर्वप्रथम और विकट समस्या जो हमारे सामने उपस्थित होती है, वह है शक-पह्लव राजाओं का क्रम। उनके अनुसार अय प्रथम, अयलिलिष और अय द्वितीय ये सब एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम थे। उसी प्रकार स्पलिरिस और स्पलिराइसेस भी एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। उनका यह कहना बुद्धि को कुण्ठित करता है। इसी प्रकार वे मथुरा के राजाओं को तथा यवन के क्षत्रप नहपान को माउस के पूर्व खोजने का साम्य करती हैं, जो कि सर्वथा असंभव है तथा हास्यास्पद है।[१]

रैप्सन टार्न, मार्शल आदि विद्वानों के कथित मत को ही मान कर हम शाहदोर, मेरा, तक्षशिला ताम्रपत्रादि, शकों के प्राचीनतम भारतीय क्षेत्र में प्राप्त, अभिलेखों का काल निर्धारण करेंगे। शकों का सबसे प्राचीन अभिलेख उस क्षेत्र में पाया गया है जहाँ यवन शासक राज्य करते थे।[२] और यह स्पष्ट हो चुका है कि यूनानी शासकों में मिनेन्डर महान् शासक था, जिसने संभवतः एक संवत् भी चलाया था। उसका काल निर्धारण १५५ ई० पू० किया गया है।[३] यूनानी महीनों का प्रयोग (शकों तथा उनके बाद के शासकों में) यह प्रमाणित करता है कि उनके पूर्वज किसी संवत् का प्रयोग करते थे। तक्षशिला ताम्रपत्र में पनेमस (मास महीना) का उल्लेख हुआ है।[४]

मिनिन्डर ने किसी संवत् को चलाया था इसका पता बजौर अभिलेख से चलता है— 'मिनद्रस महरजस कटियस दिवस ४४४११ प्र (स) (ण) मे (द)....।'[५]

---

१ सी० एच० आई० ए० सी० १९६३ पृ० ४२१—८८।
२. डा० नारायन, दि इण्डोग्रीक्स, पृ० १४४।
३ वही, पृ ७७।
४ एपि० ई ४१४५।
५ वही, २४।१-८।

इस प्रकार शहदौर, मेरा और तक्षशिला ताम्रपत्रादि अभिलेखों का काल ६५, ६७ और ७७ ई० पू० निर्धारित होता है। शक संवत् के संबंध में डा० अवधकिशोर नारायन, अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, भारती महाविद्यालय, काशी विश्वविद्यालय, का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "शकों ने अपना संवत् तब चलाया जब उन्होंने अपने प्रथम राज्य की स्थापना की— अतः इसी की घाटी से निकलने के पश्चात् ही, ईसा पूर्व १५५ में। चाहे जो हो, पर जो संवत् चलाया गया, वह ईसवी पूर्व १५५ में ही चलाया गया होगा। एक ही समय में दो संवत् के चलाने के कारण हमें बाध्य हो कर यह मानना पड़ता है जो कि 'यवन संवत्' के नाम से प्रचलित है, जिसको मिनिन्दर ने चलाया था।"[1]

सिन्ध-प्रदेश एवं पश्चिमोत्तर भारत के बाद शकों का दूसरा कुल मथुरा का था। मथुरा के शक-कुल के बारे में पर्याप्त प्रकाश 'मथुरा सिंह शीर्ष लेख' डालता है। इस लेख से इस कुल के क्रम का पता चलता है। लूडर्स के अनुसार यह लेख अमोहिनी आयागपट्ट से प्राचीन है।[2] बूलर ने इस लेख पर खुदे अंक को ७२ पढ़ा था। बूलर ने उसको ४२ पढ़ा है। रैप्सन ने भी उसको ४२ ही पढ़ा।[3] इस प्रकार अमोहिनी आयागपट्ट के काल का विषय विवादग्रस्त बन गया। मथुरा सिंह शीर्ष लेख अमोहिनी लेख से प्राचीन है इसका निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है। अमोहिनी लेख में शोडास को महाक्षत्रप कहा गया है जबकि मथुरा सिंह शीर्ष लेख में उसे केवल क्षत्रप कहा गया है।

मथुरा अभिलेख से पता चलता है कि मथुरा क्षत्रपों का पहला

---

१ डा० नारायन, दि इण्डोग्रीक्स, पृ० १७४।
२ का० ई० इ० पृ० ११४।
३ कै० हि० इं० १।५१२।

कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। सर्वप्रथम और विकट समस्या जो हमारे सामने उपस्थित होती है, वह है शक-पह्लव राजाओं का क्रम। उनके अनुसार अय प्रथम, अयलिलिष और अय द्वितीय ये सब एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम थे। इसी प्रकार स्पलिरिस और स्पलिराइसेस भी एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। उनका यह कहना बुद्धि को कुण्ठित करता है। इसी प्रकार वे मथुरा के राजाओं को तथा यवन के ऊपर नहपान को माउस के पूर्व थोपने का साम्य करती हैं, जो कि सर्वथा असंभव है तथा हास्यास्पद है।[1]

रैप्सन टार्न, मार्शल आदि विद्वानों के कथित मत को ही मान कर हम शाहदौर, मैरा, तक्षशिला ताम्र-पत्रादि, शकों के प्राचीनतम भार तीय क्षेत्र में प्राप्त, अभिलेखों का काल निर्धारण करेंगे। शकों का सबसे प्राचीन अभिलेख उस क्षेत्र में पाया गया है जहाँ यवन शासक राज्य करते थे।[2] और यह स्पष्ट हो चुका है कि यूनानी शासकों में मिनेण्डर महान् शासक था, जिसने संभवतः एक संवत् भी चलाया था। उसका काल निर्धारण १५५ ई० पू० किया गया है।[3] यूनानी महीनों का प्रयोग (शकों तथा उनके बाद के शासकों में) यह प्रमाणित करता है कि उनके पूर्वज किसी संवत् का प्रयोग करते थे। तक्षशिला ताम्रपत्र में पनेमस (मास महीना) का उल्लेख हुआ है।[4]

मिनेण्डर ने किसी संवत् को चलाया था इसका पता बजौर अभिलेख से चलता है— 'मिनद्रस महरजस कटिअस दिवस ४४११ प्र (ण) (उ) में (श) ...।'[5]

---

१ जी० एस० ओ० ए० सी० १९४१ पृ० ८२१–८४।
२. डा० नारायण, दि इण्डोग्रीक्स, पृ० १४४।
३ वही, पृ० ७७।
४ एपी ई ४।५५।
५. वही, २४।१-८।

इस प्रकार शहडोर, मैरा और तक्षशिला ताम्रपत्रादि अभिलेखों का काल ६५, ६७ और ७७ ई० पू० निर्धारित होता है। शक संवत् के संबंध में डा० अवधकिशोर नारायन अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विद्यालय का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "शकों ने अपना संवत् तब चलाया जब उन्होंने अपने प्रथम राज्य की स्थापना की—अरर हस्ती की घाटी से निकलने के पश्चात् ही, ईसवी पूर्व १५५ में। चाहे जो हो, पर जो संवत् चलाया गया, वह ईसवी पूर्व १५५ में ही चलाया गया होगा। एक ही समय में दो संवत् के चलाने के कारण हमें बाध्य हो कर पहले को मानना पड़ता है जो कि 'यवन संवत्' के नाम से प्रचलित है, जिसको मिनेण्डर ने चलाया था।"[१]

उत्तर-पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भारत के बाद शकों का दूसरा कुल मथुरा का था। मथुरा के शक कुल के बारे में पर्याप्त प्रकाश 'मथुरा सिंह शीर्ष लेख' डालता है। इस लेख से इस कुल के क्रम का पता चलता है। लूडर्स के अनुसार यह लेख अमोहिनी अयागपट से प्राचीन है।[२] बूलर ने इस लेख पर खुदे अंक को ७२ पढ़ा था। बूलर ने उसको ४२ पढ़ा है। रैप्सन ने भी उसको ४२ ही पढ़ा।[३] इस प्रकार अमोहिनी अयागपट के काल का विषय विवादग्रस्त बन गया। मथुरा सिंह शीर्ष लेख अमोहिनी लेख से प्राचीन है इसका निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है। अमोहिनी लेख में शोडास को महाक्षत्रप कहा गया है जबकि मथुरा सिंह शीर्ष लेख में उसे केवल क्षत्रप कहा गया है।

मथुरा अभिलेख से पता चलता है कि मथुरा क्षत्रपों का पहला

१ डा० नारायन, दि इण्डोग्रीक्स, पृ० १४४।
२ सी० पी० ई० हि० पृ० ११४।
३ ऐ० हि० ई० १५,१६।

राजा राजुबुल था। यह महाक्षत्रप शोडास का पिता था। राजुल के बाद उसका पुत्र उत्तराधिकारी हुआ। पिता की मृत्यु के बाद ही वह महाक्षत्रप बना होगा। मथुरा सिंह शीर्ष लेख में वह सिर्फ क्षत्रप कहा गया है। अर्थात् पिता के मातहत युवराज की हैसियत से शासन में सहायता करता था। उसी लेख में पतिक महाक्षत्रप कहा गया है जब कि तक्षशिला ताम्रपत्र उसके महाक्षत्रप के संबंध में सर्वथा मूक है।[1]

यहाँ संवत् का पचड़ा पुनः उठ खड़ा होता है। प्रो० रैप्सन के मतानुसार विक्रम संवत् में इसे हम निर्दिष्ट मानें तो शोडास का काल ५८–४२ = १७-१६ ई० पू० होता है।[2] अमोहिनी लेख से मथुरा सिंह शीर्ष लेख प्राचीन कहा गया है। यदि मथुरा लेख को अमोहिनी लेख से १ वर्ष प्राचीन मान लें तो मथुरा अभिलेख का र २१५ पू० काल-निर्धारित हो जाता है। स्टेन कोनो ने भी इस अंक को विक्रम संवत् में निर्दिष्ट माना है।[3]

यदि अमोहिनी लेख के ७२ को मानकर उसको विक्रम संवत् में न मानकर यवन संवत् में, ई० पू० १५५, लें तो कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पहला तो यही कि तक्षशिला ताम्रपत्र का काल हमें कब मालूम है और मथुरा सिंह शीर्ष लेख में पतिक को महाक्षत्रप कहा गया है जबकि तक्षशिला से वह अपने पिता के साथ शासन करता हुआ मिलता है अर्थात सिर्फ क्षत्रप था। और यह बात है कि अमोहिनी लेख मथुरा सिंह शीर्ष लेख से प्राचीन है, तो क्या पतिक (महादानपति) तक्षशिला ताम्रपत्र से भी पहले एकबार महाक्षत्रप रह चुका होगा। और बाद में क्या अपने पद से वह च्युत कर दिया गया। क्योंकि तक्षशिला ताम्रपत्र में उसको केवल क्षत्रप उपाधि से अभिहित किया गया है। यह ठीक नहीं जँचता। और फिर इस

१ एपि० इं० ८।१४९।
२ कै० हि० इं० १।५७६।
३ एपि० इं० १४।१३९-४१।

प्रकार का पहला शक इतिहास में कहीं घटित हुआ नहीं मिलती। अत एव अमोहिनी आयागपट्ट का ७२ मथुरा सिंह शीर्ष लेख विक्रम संवत् में ही गढ़े होंगे और अमोहिनी लेख का अंक संभवतः ८२ ही रहा होगा। इससे पश्चिमी क्षत्रपों के शासन की तिथि भी मालूम हो जाती है जिसका ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया था। उन्होंने लगभग ५० वर्षों तक शासन किया।

इस प्रकार जब तक शक यवन प्रभाव में रहे उन्होंने यवनों का अनुकरण किया और ज्यों-ज्यों वे भारतीय होते गए भारतीयों का अनुकरण करते गए। मथुरा में आकर उन्होंने भारतीय संवत् को अपनाया और कालान्तर में ७८ ईस्वी से चलाए हुए 'शक संवत' को अपनाया। महाराष्ट्र के क्षहरातों, उज्जयिनी और काठियावाड़ के महाक्षत्रपों के लेख इसी संवत् के हैं।



सहायक ग्रन्थ-सूची

१ संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थ

पाणिनि का अष्टाध्यायी
पतंजलि का महाभाष्य
युगपुराण
कालकाचार्य कथानक

२ क्लासिकल ग्रन्थ (यवन)

हेरोडोटस, अनु० रालिंसन
जस्टिन, अनु० वाट्सन
पेरिप्लस आफ दि एरीथ्रियन सी, अनु० मैक्क्रिंडल
(इंडियन ऐंटिक्वेरी खण्ड ८)

३ अंग्रेजी ग्रन्थ

कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया स्मिथ।
ग्रीक इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया, टार्न।
तक्षशिला, मार्शल।
कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम, खण्ड २,३।
ऐंशेंट हिस्ट्री आफ दकन अनु दीक्षितार
सीथियन पीरियड आफ इंडियन हिस्ट्री, लूँजा
सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, दिनेशचन्द्र सरकार।
हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, कुमारस्वामी
हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, फरगूसन

ग

दि इण्डो-ग्रीक्स डा० अवधकिशोर नारायन ।
ऐंशेंट इंडिया, डी० एल० शाह
दि शकाज इन इंडिया, श्री सत्यश्रव
दि " " " डा० सुधाकर चट्टोपाध्याय
विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, डा० राजबली पाण्डेय
दि इंडियन पैलियोग्राफी, डा० " " "
दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी ।
ए न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल ।

(ख)

आउट लाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, डा० डी० सुजुकी
दि सेंट्रल फिलासफी आफ 'बुद्धिज्म, डा० टी० आर० वी० मूर्ति
मथुरा म्यूजियम कैटलाग, फोगल
कैटलाग आफ दि क्वायंस आफ दि गुप्त डाइनेस्टी
वेस्टर्न क्षत्रप क्वायंस, रैप्सन
क्वायंस आफ दि इण्डो-सीथियन्स, कनिंघम
दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १
बनारस होर्ड, डा० अल्तेकर
पोजीशन आफ वीमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन डा० अल्तेकर
इकोनामिक हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया, एस० के० दास
कारपोरेट लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया आर० सी० मजूमदार
सिलेक्शन फ्राम संस्कृत इंस्क्रप्शन, डी० बी० दिस्कालकर
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पी० वी० काणे
वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स,
आर० जी० भंडारकर
स्टोरी आफ कालक, नार्मन ब्राउन
हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर-मु० मा० दासगुप्त

हिन्दी ग्रन्थ

प्राचीन भारत का इतिहास, डा० रमाशंकर त्रिपाठी
" " " डा० भगवतशरण उपाध्याय
पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, डा० भगवतशरण उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय
हिन्दू-परिवार-मीमांसा श्री हरिदत्त वेदालंकार
हिन्दू राजतंत्र, काशीप्रसाद जायसवाल
भारतीय इतिहास की मीमांसा, जयचन्द्र विद्यालंकार
प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति डा० अल्तेकर
जैन दर्शन, न्या० न्या० मुनि श्री न्यायविजय जी
शैवमत— डा० यदुवंशी
भागवत संप्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय

शोध संबंधी पत्रिकायें

(क) अंग्रेजी :

इंडियन एंटिक्वेरी
एपिग्राफिया इंडिका
जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी
जनरल बांबे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे इंडिया

(ग)

मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे एनुअल रिपोर्ट
जनरल ब उ उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी

ख

न्यूमिसमेटिक क्रानिकल
जर्नल उत्तर प्रदेश हिस्टारिकल सोसाइटी
आर्केलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
प्रोसीडिंग्स आफ दि इंडियन हिस्टारिकल कांग्रेस

(ख) हिन्दी :

विक्रम स्मृति-ग्रन्थ (ग्वालियर)
नागरी प्रचारिणी पत्रिका (विक्रम स्मृति-अंक)
विक्रमादित्य संवत्-प्रवर्तक (डॉ० राजबली पाण्डेय)

४ हिंदी ग्रन्थ

प्राचीन भारत का इतिहास, डा० रमाशंकर त्रिपाठी
" " " डा० भगवतशरण उपाध्याय
पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण डा० भगवतशरण उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भरतसिंह उपाध्याय
हिन्दू-परिवार-मीमांसा, श्री हरिदत्त वेदालंकार
हिंदू राजतंत्र, काशीप्रसाद जायसवाल
भारतीय इतिहास की मीमांसा, जयचन्द्र विद्यालंकार
प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, डा० अल्तेकर
जैन दर्शन, न्या० न्या० मुनि श्री न्यायविजय जी
धीरमन— डा० मधुवंती
भागवत संप्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय

५ शोध संबंधी पत्रिकायें

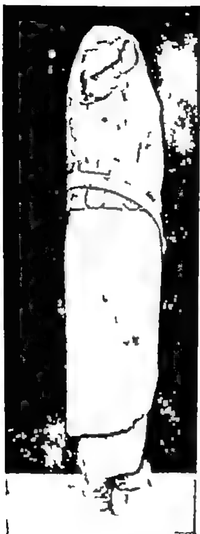
(क) अंग्रेजी :
इंडियन एंटिक्वेरी
एपिग्राफिया इंडिका
जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी
जनरल बांबे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे इंडिया
(ग)
मेमायर्स आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे एन्युअल रिपोर्ट
जनरल बि० उ० उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी

न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल
जरनल उत्तर प्रदेश हिस्टारिकल सोसाइटी
आर्केलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
प्रोसीडिंग्स आफ दि इंडियन हिस्टारिकल कांग्रेस
(ख) हिन्दी।
विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ (ग्वालियर)
नागरी प्रचारिणी पत्रिका (विक्रम स्मृति अङ्क)
विक्रमादित्य संवत् प्रवर्तक (डॉ० राजबली पाण्डेय)





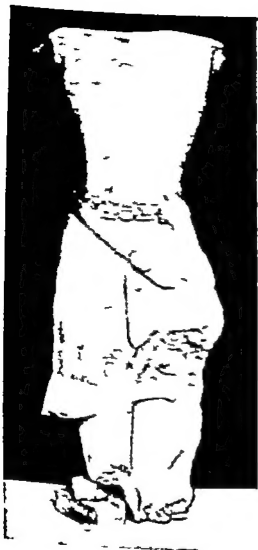
बोधिसत्त्व-प्रतिमा [सारनाथ संग्रहालय]



यक्ष की प्रतिमा [मथुरा संग्रहालय]



सीथीयन सैनिक (नागार्जुनीकाडा)



चष्टन की प्रतिमा [मथुरा संग्रहालय]